# MAA OMWATI DEGREE COLLEGE

# HASSANPUR

# NOTES

# CLASS:- M.A. (HINDI) 1st SEM

# SUBJECT: HINDI SAHITYA KA ITIHAS - I (MC)

# हिंदी साहित्य का इतिहास

## (आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल/मध्यकाल तक)

एम.ए. प्रथम वर्ष ( प्रथम सेमेस्टर ) : पेपर-3

Scanned with ACE Scanner

**1. इतिहास का अर्थ स्पष्ट करते हुए साहित्येतिहास दर्शन की सम्यक् विवेचना कीजिए।**

*अथवा*

**इतिहास दर्शन से क्या अभिप्राय है? साहित्य के इतिहास दर्शन की विशेषताएं बताइए।**

**उत्तर–इतिहास का अर्थ एवं स्वरूप**–इतिहास शब्द तीन शब्दों–इति + ह + आस–के मेल से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ होता है–ऐसा + ही + था। यह शाब्दिक अर्थ इतिहास की दो विशेषताओं को स्पष्ट करता है। पहली विशेषता यह है कि इसमें केवल अतीत की घटनाओं का समावेश होता है। दूसरी विशेषता यह है कि उसमें घटनाओं का वास्तविक या यथार्थपरक चित्रण होता है तथा उसमें कल्पना का समावेश नहीं होता। अनेक भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार इतिहास को इस प्रकार परिभाषित किया है–

**"इतिहास में तथ्यों का इतिहासकार से सर्वथा विलग अस्तित्व नहीं होता, इतिहासकार ही अपने चयनकर्म द्वारा तथ्यों का प्रतिष्ठान करता है। अतः इतिहास परिवर्तनशील एवं गतिशील है।"** **–ई.एच. कार**

**"इतिहास केवल घटनाओं का अन्वेषण तथा संकलन मात्र नहीं है, अपितु उसके भीतर कार्य-कारण सम्बन्ध विद्यमान है।"** **–हीगल**

**"अतीत के किसी भी तथ्य, तत्त्व या प्रवृत्ति के वर्णन, विवरण, विवेचन व विश्लेषण को–जो कि काल विशेष या काल-क्रम की दृष्टि से किया गया है–इतिहास कहा जा सकता है।"–डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त**

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है **"इतिहास में केवल तिथियों, घटनाओं, नामों का लेखा-जोखा ही नहीं होता, बल्कि उसमें मनुष्य की प्रवृत्ति, प्रक्रिया, स्थिति, घटना आदि का पूर्ण अध्ययन किया जाता है।"** यह अध्ययन हमें अपनी अतीत की गलतियों को ध्यान में रखकर अपने भविष्य को सँवारने में सहायता देता है। अतः यह कहा जा सकता है कि **"इतिहास मानव-कार्यों से जुड़ी वह विधा है जो हमें अतीत की घटनाओं से नई शिक्षा ग्रहण करने का अवसर देती है ताकि हम अपने आगत को सुधार सकें।"**

यद्यपि इतिहास को प्राचीनकाल से ही एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता मिली हुई है, फिर भी समय-समय पर अध्येताओं के दृष्टिकोण, उनकी पद्धति आदि के कारण इसकी स्वरूप-सम्बन्धी धारणा में बदलाव आता रहा है। इतिहास एक कला है या विज्ञान–यह आज भी विवाद का प्रश्न तथा विषय है। इतिहास की अध्ययन-पद्धति या रचना-पद्धति के अनुरूप इसे विज्ञान भी कहा जा सकता है तथा कला भी। यह तो सत्य है कि इतिहास अतीत का इतिवृत्त प्रदान करता है। यदि हम उस इतिवृत्त को आत्मपरक दृष्टिकोण, वैयक्तिक अनुभूति तथा ललित शैली में प्रस्तुत करते हैं तो इतिहास एक कला बन जाता है। परन्तु यदि हम उसी इतिवृत्त को वस्तुपरक दृष्टिकोण, तर्कपूर्ण शैली से प्रस्तुत करते हैं तो उसे विज्ञान की श्रेणी में भी रखा जा सकता है।

Scanned with ACE Scanner

अतः इतिहास के स्वरूप को समझना सहज कार्य नहीं है। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इतिहास से मनुष्य का पुराना संबंध है। मानव-संस्कृति, उसके संस्कार, उसका व्यवहार, उसकी नीति आदि प्राचीन काल से चलती आ रही है और आज उनमें अत्यधिक परिवर्तन भी आ चुका है, परन्तु यदि हम उसके वर्तमान स्वरूप को समझना चाहते हैं तो पहले उसके अतीत की ओर देखना होगा। निश्चय ही इतिहास इस दिशा में उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इस प्रकार मनुष्य जितना समाज से जुड़ा हुआ है, उतना ही वह इतिहास से भी जुड़ा हुआ है।

परन्तु यहाँ पर यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मनुष्य इतिहास के हाथ की कठपुतली नहीं है। एक ओर मनुष्य इतिहास से प्रभावित होता है तो दूसरी ओर वह अपने कार्यों, घटनाओं आदि से नए इतिहास का निर्माण भी करता है, इतिहास में नए मोड़ भी लाता है। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इतिहास केवल मृत व्यक्तियों, भग्नावशेषों, प्राचीन युग के खण्डित पत्थरों या मूर्तियों तक सीमित नहीं है, बल्कि वह तो हमें अतीत की घटनाओं से नई शिक्षा ग्रहण करने का अवसर प्रदान करता है, हमारे भावी जीवन के निर्माण में सहयोगी सिद्ध होता है। 'महाभारत' (1/1/83) में भी इतिहास के महत्त्व को स्वीकार करते हुए लिखा गया है–

**इतिहास प्रदीपेन मोहावरणघातिना।**
**लोकगर्भगृहं कृत्स्नं यथावत् सं प्रकाशितम्।।**

अर्थात् इतिहास हमारा मोह-आवरण दूर करता है, हमारे ज्ञान-चक्षु खोलकर नया मार्ग दर्शाता है।

**इतिहास-दर्शन का अर्थ**–इतिहास-दर्शन में वस्तुतः इतिहास के अध्ययन में विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रयुक्त दृष्टिकोणों, धारणाओं, विचारों आदि को सम्मिलित किया जाता है। इतिहास के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर है। 'महाभारत' में इतिहास को ऐसा पूर्ववृत्त माना गया है जिसके माध्यम से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का उपदेश दिया जा सके–

**"धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितम्।**
**पूर्ववृत्त कथा युक्तमितिहासं प्रचक्षते।।"**

आगे-आगे चलकर पुराणों में महापुरुषों के चरितगान को 'इतिहास' के रूप में स्वीकार किया गया तथा और आगे चलकर वह काव्यात्मक इतिहास के रूप में प्रचलित हुआ।

पाश्चात्य इतिहासकारों ने इतिहास के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाया है। आरम्भ में **हिरोदोतस** ने इतिहास को खोज, गवेषणा या अनुसंधान के आधार पर वैज्ञानिक विधा माना है तो आगे चलकर **विको** ने इतिहास को अतीत तथा वर्तमान से जोड़कर दर्शाया है। **कान्त** ने इतिहास को ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे छिपी मूल प्रवृत्ति के साथ जोड़कर देखा है। **हीगल** ने भी उसे कार्य-कारण शृंखला से जोड़कर देखा है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इतिहास के प्रति विद्वानों के दृष्टिकोणों में पर्याप्त मतभेद हैं।

परन्तु यह निर्विवाद सत्य है कि इतिहासकार इतिहास-लेखन में जितना तटस्थ रहता है, उसका इतिहास उतना ही विश्वसनीय एवं प्रामाणिक माना जाता है। एक सफल इतिहासकार अतीत की उन सभी घटनाओं, व्यक्तियों आदि को अपने अध्ययन का विषय बनाता है जिन्होंने मानव-समाज पर एक अमिट प्रभाव छोड़ा या जिन्होंने मानव-समाज को एक नई दिशा प्रदान की। इतिहासकार दो प्रकार से–तथ्यों की जाँच-पड़ताल करके एवं स्रोतों से तथ्यों का चयन करके अपने इतिहास-बोध को व्यक्त करता है। अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इतिहासकार अतीत की घटनाओं, तथ्यों आदि को जितनी ईमानदारी, तटस्थता के साथ प्रस्तुत करता है, उसका इतिहास उतना ही प्रभावशाली, विश्वसनीय एवं प्रामाणिक होगा।

यद्यपि इतिहास से अतीत की राजनीतिक, सांस्कृतिक आदि घटनाओं के संकलन का बोध होता है, परन्तु सच्चाई यह है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु, पदार्थ का इतिहास से सम्बन्ध रहता है तथा उसका अपना इतिहास होता है। प्रारम्भ में राजनीतिक इतिहास में केवल राजाओं के जीवन-चरित्र तथा राजनीतिक घटनाओं को ही इतिहास में स्थान मिलता था, परन्तु धीरे-धीरे उसमें जन-साधारण का भी समावेश होने लगा। इसी प्रकार साहित्य के इतिहास में भी यह परिवर्तन आवश्यक समझा गया। परन्तु साहित्य-इतिहास का दर्शन जानने से पहले 'साहित्य- इतिहास' को जान लेना उचित होगा।

## *साहित्य-इतिहास का अर्थ*

जिस प्रकार राजनीतिक इतिहास में उन सभी राजनेताओं, शासकों, राजनीतिक घटनाओं आदि का काल-क्रमानुसार अध्ययन किया जाता है जो कि अतीत से जुड़े हैं और जो अतीत में घट चुकी हैं, ठीक उसी प्रकार साहित्य-इतिहास में किसी भी भाषा के

Scanned with ACE Scanner

आरम्भिक साहित्यकारों, उनकी कृतियों आदि के साथ-साथ उनके विकास की दिशाओं का अध्ययन किया जाता है। किसी भी राजनीतिक इतिहासकार के लिए साहित्य के इतिहास को जानना इतना आवश्यक नहीं होता, परन्तु किसी भी साहित्येतिहासकार के लिए राजनीतिक इतिहास को जानना अत्यंत आवश्यक है। इसका मूल कारण यही है कि साहित्य की विभिन्न विधाओं पर तत्कालीन युग की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों का स्पष्ट प्रभाव पड़ता है।

अतः साहित्य-इतिहास के लेखन में वही साहित्य-इतिहासकार सफल माना जा सकता है जिसे साहित्य की विधाओं के साथ-साथ अतीत के धर्म, दर्शन, राजनीति, समाज आदि का भी अच्छा ज्ञान हो। इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल ने 'साहित्य के इतिहास' की परिभाषा देते हुए ठीक ही कहा है–

**"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक और धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"**

## *साहित्य-इतिहास का दर्शन*

'इतिहास-दर्शन' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग **वोल्तेर** ने किया था, परन्तु उन्होंने इसके अर्थ को केवल 'आलोचनात्मक वैज्ञानिक इतिहास' तक सीमित रखा था। परन्तु आज के समय में 'इतिहास-दर्शन' का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया जाता है। इतिहास-दर्शन इतिहास-ग्रंथों में प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक तथा पूर्व से लेकर पश्चिम तक के उन सभी दृष्टिकोणों, पद्धतियों आदि का प्रतिपादन होता है जो इतिहास-अध्ययन में प्रयुक्त होती हैं। इस सम्बन्ध में **हीगल** ने लिखा है कि **"इतिहास-दर्शन का अर्थ इतिहास सम्बन्धी चिन्तनयुक्त विचारों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।"**

'दर्शन' शब्द का सामान्य अर्थ है–वह विधा जो किसी पदार्थ, वस्तु आदि के धर्म, कार्य, कारण, प्रवृत्ति आदि का बोध कराए। आधुनिक युग में साहित्य-इतिहास लेखन की परम्परा को विशेष महत्ता दी गई है और इसी विशेष महत्ता के कारण वह 'दर्शन' रूप में पहचाना गया है। इस संदर्भ में विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने विचारों को प्रकट किया है; यथा–

**डॉ. नगेन्द्र** के मतानुसार, **"आज साहित्य का अध्ययन, विश्लेषण केवल साहित्य तक सीमित रहकर नहीं किया जा सकता। उसकी विषयगत प्रवृत्तियों और शैलीगत प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के लिए उसे संबंधित राष्ट्रीय परम्पराओं, सामाजिक वातावरण, आर्थिक परिस्थितियों, युगीन-चेतना एवं साहित्यकार की वैयक्तिक प्रवृत्तियों का विश्लेषण, विवेचन करना पड़ता है।"**

**डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय** के मतानुसार, **"साहित्येतिहास दर्शन सामान्य इतिहास दर्शन के समानान्तर होता है। . . . साहित्य के इतिहास लेखक को उस सामाजिक संदर्भ का ध्यान रखना चाहिए जिससे वह साहित्य प्रादुर्भूत हुआ है।"**

उपर्युक्त परिभाषाओं, विचारों से साहित्येतिहास-दर्शन की निम्नलिखित विशेषताएँ प्रकट होती हैं–

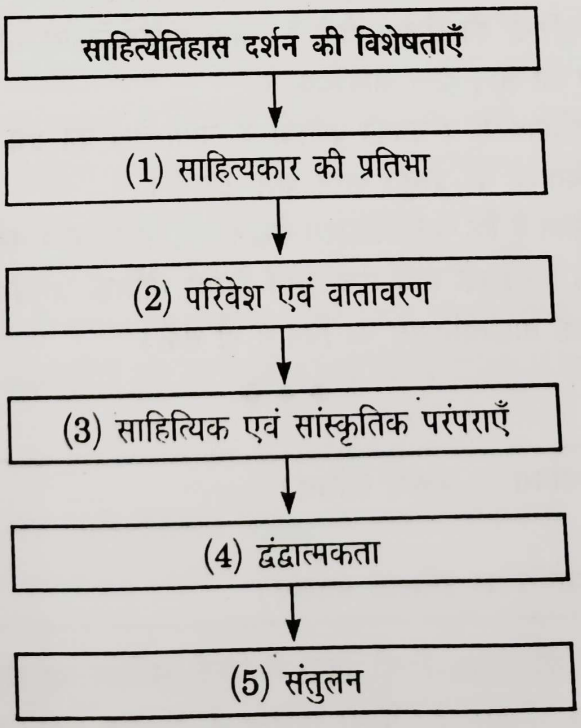


Scanned with ACE Scanner

**(1) साहित्यकार की प्रतिभा**–साहित्येतिहास में मूलतः साहित्य का अध्ययन होता है और साहित्य की रचना साहित्यकार द्व
ा होती है। अतः साहित्येतिहास का मूलाधार साहित्यकार की प्रतिभा होती है। साहित्य का अध्ययन करते समय कई बार एक
ी काल में दो विभिन्न साहित्यकार समान सामाजिक, राजनीतिक परिस्थितियों का सामना करते हैं, फिर भी उनकी रचनाओं में
र्याप्त अन्तर मिलता है। उदाहरण के लिए रीतिकाल में कवि भूषण व बिहारी की रचनाओं में पर्याप्त अन्तर है। इस प्रकार
ाहित्येतिहास में साहित्य का समग्र अध्ययन करने के लिए सबसे पहले साहित्यकार की प्रतिभा, उसकी सृजन-क्षमता से परिचित
ोना अनिवार्य है। अतः साहित्येतिहास में साहित्यकार की प्रतिभा का विशेष स्थान होता है।

**(2) परिवेश एवं वातावरण**–साहित्येतिहास-दर्शन में परिवेश एवं वातावरण की पहचान होना भी आवश्यक है। जिस सामाजिक
परिवेश, वातावरण में किसी कृति की रचना होती है, साहित्येतिहास में उसका चिन्तन करना भी अनिवार्य है। इसका मूल कारण
यही है कि किसी भी काल-विशेष की साहित्यिक कृतियों पर तत्कालीन परिवेश एवं वातावरण का प्रभाव अवश्य पड़ता है। उदाहरण
के लिए आदिकालीन साहित्य में राष्ट्रीय-भावना की कमी देखी जा सकती है फिर भी तत्कालीन कवियों, साहित्यकारों ने रियासतों
के वातावरण तथा दरबारी परिवेश के अनुरूप 'रासो' साहित्य की रचना की।

**(3) साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ**–किसी भी भाषा के साहित्येतिहास-लेखन में किसी काल-विशेष की साहित्यिक
प्रवृत्तियों, उसके विकास आदि का अध्ययन करने के लिए उससे पूर्ववर्ती साहित्यिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को जानना
आवश्यक है। साहित्येतिहासकार को साहित्य का मूल-स्रोत खोजने के लिए तत्कालीन परिवेश एवं वातावरण के साथ-साथ पूर्ववर्ती
परम्पराओं पर भी विचार करना पड़ता है। उदाहरण के लिए हिन्दी-साहित्य में भक्ति की निर्गुण-काव्यधारा का उद्गम खोजने के
लिए सातवीं-आठवीं शताब्दी के शंकराचार्य के अद्वैतवाद सिद्धान्त तक पीछे जाना होगा।

**(4) द्वन्द्वात्मकता–हीगल** का मत है कि दो परिस्थितियों, घटनाओं के परस्पर टकराने से जो तीसरी परिस्थिति या घटना
उत्पन्न होगी, वह पहले की दोनों परिस्थितियों, घटनाओं की तुलना में अच्छी होगी। यह द्वन्द्वात्मकता ही मानव-विकास का मूलाधार
है। साहित्येतिहास में भी इसी द्वन्द्वात्मकता का विशेष स्थान है। प्रायः साहित्यकार आन्तरिक या बाह्य द्वन्द्व से प्रभावित होकर ही
कृति की रचना करता है। यथा–कबीर के काव्य में सामाजिक विसंगतियों के प्रति जो आक्रोश उत्पन्न हुआ है, वह बाह्य द्वन्द्व है,
आगे चलकर सूरदास ने अपने काव्य में कबीर के निर्गुण-ब्रह्म का विरोध किया है।

**(5) संतुलन**–साहित्यकार अपनी सृजन-शक्ति के बल पर, विषम परिस्थितियों, वातावरण, सामाजिक कुरीतियों आदि के
ध्य पिसकर जब जीवन-मूल्यों को खोजता है, वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, मानवीय-अमानवीय आदि के बीच संतुलन स्थापित करने का
यास करता है ताकि समाज के विकास की गति में तेजी लाई जा सके। साहित्येतिहास-दर्शन में साहित्यकार के इस संतुलन एवं
ामंजस्य को भी विशेष महत्त्व दिया जाता है।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त साहित्येतिहास-दर्शन के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं–

(i) साहित्येतिहास में काल-विशेष की राजनीतिक, सामाजिक, आदि परिस्थितियों का चित्रण होता है। साहित्य की प्रवृत्तियाँ तत्कालीन समाज की प्रवृत्तियों की द्योतक होती हैं। अतः साहित्येतिहास को समझने के लिए रचनाकार की स्थिति, उसके परिवेश-वातावरण का ज्ञान होना आवश्यक है।

(ii) साहित्येतिहास केवल साहित्यकारों व उनकी कृतियों के नामोल्लेख का ग्रंथ नहीं होता, बल्कि वह तो मानव-समाज के विकास, उसकी विशेषताओं को प्रस्तुत करने वाला ग्रंथ है।

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि साहित्येतिहास-लेखन कोई सरल कार्य नहीं है। इसके लेखन में साहित्येतिहासकार
ो तटस्थ एवं निष्पक्ष रहना आवश्यक है। इसके साथ-साथ इसमें निरंतर मौलिक अनुसंधान करने की आवश्यकता बनी रहती है
कि एक स्वस्थ, निष्पक्ष तथा वैज्ञानिक साहित्येतिहास का निर्माण हो सके।

Scanned with ACE Scanner

सही प्रामाणिकता के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों का विचार है कि हिन्दी साहित्य इतिहास लेखन की परम्परा का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी से होना चाहिए। उनका विचार है कि इस काल से पूर्व कुछ कवियों तथा लेखकों ने इस संदर्भ में स्फुट संकेत दिए हैं। लेकिन हाल ही के शोध से यह स्पष्ट हो चुका है कि साहित्येतिहास लेखन की परम्परा अत्यधिक प्राचीन है। परन्तु यह भी सत्य है कि आधुनिक युग में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। यही नहीं, कुछ रचनाओं को आधार बनाकर एक सुव्यवस्थित इतिहास लेखन का प्रयास किया गया जिसके फलस्वरूप हिन्दी साहित्येतिहास लेखन संबंधी अनेक भ्रांतियाँ दूर हुई हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से हम हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा को चार भागों में विभक्त कर सकते हैं–

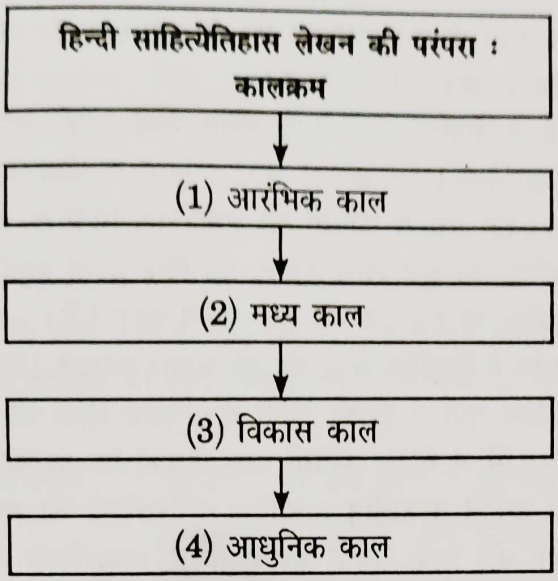


### *1. आरंभिक काल*

इस काल में कुछ प्राचीन ग्रंथों की चर्चा की जा सकती है। इनमें कुछ कवियों की रचनाओं तथा उनका संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। इनमें–**''चौरासी वैष्णवन की वार्ता''**, **''दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता''**, **''भक्तमाल''**, **''कवि माल''**, **''कालिदास हजारा''** आदि कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं जिनमें प्राचीन कवियों से संबंधित सूचनाएँ प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु इनमें कालक्रम, सन्, सम्वत् का सर्वथा अभाव है। इसके साथ-साथ **'काव्यद्रुम'**, **'रसचन्द्रोदय'**, **'दिग्विजयभूषण'**, **'सुन्दरी तिलक'** आदि रचनाओं का उल्लेख किया जा सकता है। इन रचनाओं में भी हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन में कुछ सामग्री मिल जाती है। परन्तु यह भी सत्य है कि ये रचनाएँ ऐतिहासिक रचनाएँ नहीं हैं। परन्तु जब हम किसी भी भाषा के साहित्य के इतिहास के लेखन का प्रयास करते हैं तो हमें अतीत के साहित्य का समुचित अनुसंधान करना पड़ता है। इस संदर्भ में रचनाओं की प्रामाणिकता तथा उनके कालक्रम का विवेचन भी आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन की सबसे बड़ी बाधा यह है कि हिन्दी साहित्य का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो चुका है। कुछ ऐसी भी रचनाएँ हैं जो राज पुस्तकालयों तथा निजी पुस्तकालयों में उपेक्षित पड़ी हुई हैं। आज इस बात की आवश्यकता है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए समुचित अनुसंधान किया जाए ताकि कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सके। जब तक हम वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाकर इन रचनाओं का मूल्यांकन नहीं करते तब तक हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखन सफलतापूर्वक सम्पन्न नहीं हो सकेगा। ऊपर जिन ग्रंथों का उल्लेख किया गया है उनमें प्रायः भक्त कवियों का परिचय दिया गया है। भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में अपने निजी जीवन की सूचना बहुत कम दी है। इसलिए ये ग्रंथ साहित्येतिहास लेखन के लिए अधिक उपयोगी नहीं कहे जा सकते। ब्राह्य साक्ष्य के रूप में इनका प्रयोग अवश्य किया जा सकता है।

### *2. मध्यकाल*

पहले बताया जा चुका है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा का आरंभ उन्नीसवीं शताब्दी में ही सही अर्थों में हुआ। इस काल में निम्नलिखित विद्वानों ने काफी योगदान दिया है–

**(i) गार्सा द तासी**–हिन्दी साहित्येतिहास-लेखन परम्परा का आरम्भ सबसे पहले फ्रेंच विद्वान **गार्सा द तासी** ने किया था। यहाँ से ही हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा का श्रीगणेश माना जाता है। **गार्सा द तासी** एशियाई भाषाओं के विद्वान थे। उन्होंने

Scanned with ACE Scanner

फ्रेंच भाषा में **'इस्तवार द ला लितरेत्यूर ऐन्दुई एन्दुस्तानी'** नामक ग्रंथ की रचना की जिसका प्रथम भाग सन् 1839 तथा दूसरा भाग सन् 1847 में प्रकाशित हुआ। इस ग्रंथ में उन्होंने हिन्दी तथा उर्दू के 738 कवियों का वर्ण-क्रमानुसार विवरण दिया है जिनमें से केवल 72 हिन्दी कवि थे। सन् 1871 ई. में इसका दूसरा संस्करण कुछ संशोधनों के साथ प्रकाशित हुआ। यद्यपि गार्सा द तासी के इस साहित्येतिहास में अनेक कमियाँ हैं, जैसे–कवियों का उनके जीवन के कालक्रम के स्थान पर अंग्रेजी वर्ण-क्रमानुसार विवरण देना, साहित्य की युगीन प्रवृत्तियों का कोई विभाजन न करना, सम्पूर्ण साहित्येतिहास का काल-विभाजन न करना आदि। इस दृष्टि से उनके ग्रंथ को इतिहास ग्रन्थ मानने में संकोच तो होता है, परन्तु इतना अवश्य कहा जाएगा कि किसी भी क्षेत्र में किए गए पहले प्रयास का महत्त्व उसकी उपलब्धियों पर निर्भर नहीं करता, बल्कि उसका महत्त्व तो एक नई दिशा प्रदान करने में ही माना जाता है। यही बात गार्सा द तासी के साहित्येतिहास पर भी लागू होती है। अतः निश्चय ही **गार्सा द तासी** को हिन्दी साहित्येतिहास का प्रवर्तक तथा प्रथम लेखक माना जा सकता है।

**(ii) शिवसिंह सेंगर**–सन् 1883 ई. में शिवसिंह सेंगर ने **'शिवसिंह सरोज'** नामक ग्रंथ की रचना की और हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा को आगे बढ़ाने का प्रयास किया। इस ग्रंथ में 998 कवियों के जीवनचरित्र तथा उनके रचनाकाल तथा उनकी कविताओं के कुछ उदाहरण दिए गए हैं। इस ग्रंथ में कृतियों की साहित्यिक विवेचना भी की गई है। यद्यपि डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त आदि कुछ विद्वानों से 'शिवसिंह सरोज' को कुछ खास महत्त्व नहीं दिया परन्तु बहुत दिनों तक यह ग्रंथ परवर्ती ग्रंथकारों के लिए आधार ग्रंथ का काम करता रहा। फिर भी इस ग्रंथ की कुछ अपनी सीमाएँ हैं।

**(iii) 'जार्ज ग्रियर्सन'**–जार्ज ग्रियर्सन ने शिवसिंह सेंगर ग्रंथ को आधार बनाकर 1889 में **'द मॉडर्न वर्नेक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान'** की रचना की। डॉ. किशोरीलाल गुप्त ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया जो कि **'हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास'** नाम से प्रसिद्ध है। ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ में न केवल कवियों तथा लेखकों का कालक्रमानुसार वर्गीकरण किया, बल्कि युगीन प्रवृत्तियों को भी स्पष्ट किया। यही नहीं उन्होंने तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों को सामने रखकर काल विशेष की साहित्यिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला। उन्होंने पहली बार भाषा संबंधी धारणाओं को स्पष्ट किया और हिन्दी भाषा तथा उसके साहित्य स्वरूप तथा उसके विकास के बारे में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। यद्यपि जार्ज ग्रियर्सन का ग्रंथ तासी और सेंगर के ग्रंथों प्रभावित है फिर भी काल विभाजन की दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। उनके इतिहास ग्रंथ की एक अ विशेषता यह है कि उन्होंने हिन्दी साहित्य का भाषा की दृष्टि से क्षेत्र निर्धारित किया और संस्कृत, प्राकृत तथा उर्दू की रचना को हिन्दी साहित्य इतिहास में कोई स्थान नहीं दिया गया। यही नहीं, उन्होंने सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य **'स्वर्ण युग'** का नाम भी दिया है। वे लिखते भी हैं–**''मैं आधुनिक भाषा साहित्य का ही विवरण प्रस्तुत करने जा रहा हूँ। अत संस्कृत में ग्रंथ-रचना करने वाले लेखकों का विवरण नहीं दे रहा हूँ। प्राकृत में लिखी पुस्तकों को भी विचार के बाहर रख रहा भले ही प्राकृत कभी बोलचाल की भाषा रही हो पर आधुनिक भाषा के अन्तर्गत नहीं आती। मैं न तो अरबी-फारसी के भा लेखकों का उल्लेख कर रहा हूं और न ही विदेश से लायी गई साहित्यिक उर्दू के लेखकों का ही–मैंने इन अन्तिम को उर्दूवालों अपने विचार से जान-बूझकर बहिष्कृत कर दिया है, क्योंकि इन पर पहले ही गार्सा द तासी ने पूर्णरूप से विचार कर लिया** डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने जार्ज ग्रियर्सन की उपलब्धियों पर प्रकाश डालते हुए लिखा भी है–**''हिन्दी साहित्य के इतिहास क्र निर्धारण, चारण काव्य, धार्मिक काव्य, दरबारी काव्य, प्रेमकाव्य के रूप में करना तथा सोलहवीं-सत्रहवीं शती के युग को (भक्ति को) हिन्दी-काव्य का स्वर्ण युग मानना ग्रियर्सन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां हैं जिन्हें किंचित् संशोधन एवं नूतन शब्दों में प्रस्तुत परवर्ती इतिहासकारों ने भारी श्रेय प्राप्त किया है।''**

मध्यकाल में दो अन्य विदेशी मेहमानों का उल्लेख करना जरूरी होगा जिन्होंने हिन्दी इतिहास लेखन की परम्परा महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। **'एडविन ग्रीव्स'** द्वारा रचित **'स्कैच ऑफ हिन्दी लिटरेचर'** एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसी प्रका द्वारा रचित **'ए हिस्ट्री ऑफ लिटरेचर'** एक उपयोगी ग्रंथ है। इन दोनों ग्रंथों में हिन्दी साहित्य को कालक्रमानुसार प्रस्तुत क प्रयास किया गया है। इधर पण्डित **'महेशदत्त शुक्ल'** द्वारा रचित **'हिन्दी काव्य संग्रह, (1873 ई.)** तथा **'राम नरेश त्रिपा** रचित **''कविता–कौमुदी, (1910 ई.)** रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं। पुनः **'बाबू श्यामसुंदर दास'** ने **'हिन्दी भाषा और** नामक ग्रंथ लिखा। लेकिन इस ग्रंथ का पहला भाग तो केवल भाषा विज्ञान से संबंधित है।

**(iv) 'मिश्रबन्धु'**–ग्रियर्सन के बाद हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में मिश्रबन्धुओं ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। इन रचित–**'मिश्रबन्धु विनोद'** एक महत्त्वपूर्ण इतिहास ग्रंथ है जो कि चार भागों में विभक्त है। इसके पहले तीन भाग सन् में प्रकाशित हुए थे। चौथे भाग का प्रकाशन सन् 1934 ई. में हुआ। इसका संबंध आधुनिक काल से है। **मिश्रबन्धुओं**

Scanned with ACE Scanner

ग्रंथ के बारे में लिखा है–**"पहले हम ग्रंथ का नाम हिन्दी साहित्य का इतिहास रखने वाले थे परन्तु इतिहास की गंभीरता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि हममें साहित्य-इतिहास लिखने की क्षमता नहीं है।"** प्रस्तुत ग्रंथ में 5000 कवियों का साहित्यिक मूल्यांकन किया गया है और पूरे ग्रंथ में आठ से अधिक भागों में विभक्त किया गया है। **आचार्य शुक्ल** ने भी इतिहास ग्रंथ की रचना करते समय इस ग्रंथ की सहायता ली है। वस्तुतः मिश्रबन्धुओं ने अनेक नवीन कवियों को प्रकाश में लाने का प्रयास किया और एक सुव्यवस्थित इतिहास ग्रंथ लिखा।

### *3. विकास काल*

**(i) 'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल'**–हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा में आचार्य शुक्ल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान है। इनके ग्रंथ का नाम है–**'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** (सन् 1929)। वस्तुतः इसे हिन्दी साहित्य का प्रथम सुव्यवस्थित इतिहास ग्रंथ कहा जा सकता है। शुक्ल जी ने जार्ज ग्रियर्सन और मिश्रबन्धुओं के कार्य को आगे बढ़ाया। वस्तुतः यह ग्रंथ **'काशी नागरी प्रचारिणी सभा'** द्वारा प्रकाशित **'हिन्दी शब्द सागर'** की भूमिका के रूप में लिखा गया था। इस संदर्भ में **डॉ. हुकुमचन्द्र राजपाल** लिखते भी हैं–**"आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि उन्होंने पहली बार साहित्येतिहास की सुनिश्चित और सारपूर्ण परिभाषा दी और उसे क्रियान्वित करते हुए एक सुनियोजित साहित्येतिहास प्रस्तुत किया। आचार्य शुक्ल ने प्रत्येक युग की राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थितियों को उस युग की जनता की चितवृत्तियों का स्रोत स्वीकार किया और युगीन जनमानस को तत्कालीन साहित्य का स्रोत माना। इस प्रकार एक कारण–कार्यमूलक वैज्ञानिक दृष्टि को उन्होंने अपने इतिहास लेखन का आधार बनाया।"**

उनके साहित्येतिहास की अनेक विशेषताएँ हैं जिनके कारण यह ग्रंथ आज भी महत्त्वपूर्ण माना जाता है। उन्होंने अपने हिन्दी साहित्येतिहास को कुल चार खंडों में बांटा है। उनका काल-विभाजन भले ही आज त्रुटिपूर्ण सिद्ध हो चुका है परन्तु सरलता तथा स्पष्टता के कारण यह काल विभाजन आज भी प्रचलित है। उन्होंने इस ग्रंथ में भक्तिकाल को **चार** भागों में बांटकर दार्शनिक एवं धार्मिक दृष्टि से भी अनुसंधान करने वालों के लिए सरल मार्ग प्रस्तुत कर दिया है। उनके साहित्येतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने कवियों और साहित्यकारों के जीवन-चरित की इतिवृत्ति के स्थान पर उनकी कृतियों की साहित्यिक महत्ता को प्रमुखता दी है। उनसे पूर्ववर्ती साहित्येतिहासकार मिश्रबन्धुओं ने जहाँ पाँच हजार कवियों का परिचय दिया था, वहीं शुक्ल जी ने लगभग **एक हजार कवियों, साहित्यकारों** को अपने ग्रंथ में स्थान दिया है तथा उनकी साहित्यिक रचनाओं की महत्ता के अनुरूप ही उनके जीवन और साहित्य का संक्षिप्त या विस्तृत विवेचन किया है। **शुक्ल जी** लिखते भी हैं–**"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चितवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है तब यह निश्चित है कि जनता की चितवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परम्परा को परखते हुए साहित्य-परम्परा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चितवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"**

इसके बावजूद भी उनके साहित्येतिहास में अनेक दोष भी दिखाई देते हैं। आधुनिक खोजों से उनके ग्रंथ में आदिकाल के लिए प्रयुक्त **'वीरगाथा काल'** का नामकरण अनुपयुक्त सिद्ध हो चुका है। उन्होंने साहित्य को चितवृत्ति के प्रतिबिम्ब के रूप में ही ग्रहण किया है। फलतः उसमें पूर्व-परम्परा से संबंधित तत्त्वों, स्रोतों की उपेक्षा हो गई है। यथा–**"वे कहते हैं कि भक्तिकाल तद्युगीन निराशा की देन है, संत मत इस्लाम के एकेश्वरवाद के प्रभाव का सूचक है।"** इन कमियों के बावजूद भी यह अवश्य स्वीकार किया जाएगा कि साहित्येतिहास लेखन परम्परा में आचार्य शुक्ल का स्थान अक्षुण्ण बना रहेगा।

**(ii) डॉ. श्यामसुन्दर दास, अयोध्या सिंह उपाध्याय, रमाशंकर शुक्ल** आदि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद के साहित्येतिहासकार हैं। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने सन् 1930 में **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** ग्रंथ की रचना की। उनके अतिरिक्त रमाशंकर शुक्ल ने **'हिन्दी साहित्य का इतिहास', सूर्यकांत शास्त्री** ने **'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास'** तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय ने **हिन्दी साहित्य का इतिहास** आदि ग्रंथों की रचना की। डॉ. श्यामसुंदर दास ने कवियों की अपेक्षा विभिन्न कालों का साहित्यिक प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला है। इसके अतिरिक्त उन्होंने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का भी विवेचन किया है। कुछ सीमा तक डॉ. श्यामसुंदर दास ने उपयोगी कार्य किया है। अयोध्या सिंह उपाध्याय ने उदार दृष्टि का परिचय देते हुए कवियों की आलोचना की और [illegible]

Scanned with ACE Scanner

**(iii) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी**–हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इन्होंने अपनी रचना **'हिन्दी साहित्य की भूमिका'** में एक नवीन दृष्टि से साहित्य के विकास की व्याख्या की है। उन्होंने देश की प्राचीन परम्पराओं तथा सांस्कृतिक लोकपरम्पराओं के आधार पर हिन्दी साहित्य के बारे में अपने मौलिक विचार व्यक्त किए। उन्होंने यह कहा कि भक्ति आंदोलन न तो हिन्दू जाति की पराजित मानसिकता का परिणाम था, न कि इस्लाम धर्म की प्रतिक्रिया की। वे कहते भी हैं–**''मैं इस्लाम के महत्त्व को भूल नहीं रहा हूँ, परंतु जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम न आया होता तो भी इस साहित्य का बाहर आना ऐसा होता जैसा कि आज है।''** द्विवेदी जी ने सिद्धों तथा नाथों की वाणियों, विचार-सरणि तथा काव्य-शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन किया। यही नहीं, उन्होंने संत काव्य तथा प्रेमाख्यानक काव्य पर भी अपने मौलिक विचार व्यक्त किए। उनके अन्य दो ग्रंथ हैं–**''हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास''** तथा **''हिन्दी साहित्य का आदिकाल''**।

**(iv) 'डॉ. रामकुमार वर्मा'**–इन्होंने हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। इनके द्वारा रचित ग्रंथ **'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'** सन् 1938 में प्रकाशित हुआ। इन्होंने आचार्य शुक्ल का अनुसरण करते हुए हिन्दी साहित्य के इतिहास (सम्वत् 750 से सम्वत् 1750 तक की कालावधि) को सात प्रकरणों में विभक्त किया है–

1. संधिकाल
2. चारण काल
3. भक्तिकाल की अनुक्रमणिका
4. भक्तिकाल
5. प्रेमकाव्य
6. रामकाव्य और
7. कृष्णकाव्य।

यह ग्रंथ पाठकों में बड़ा लोकप्रिय हुआ है। इसकी प्रशंसा करते हुए **डॉ. गुप्त** ने लिखा भी है–**''कवियों के मूल्यांकन अवश्य लेखक ने अधिक सहृदयता तथा कलात्मकता का परिचय दिया है। अनेक कवियों के काव्य-सौंदर्य का आख्यान करते समय लेखन की लेखनी काव्यमय हो उठी है, जो कि डॉ. वर्मा के कवि-पक्ष का संकेत देती है।''**

**(v) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा**–डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने **हिन्दी साहित्य** ग्रंथ लिखकर हिन्दी साहित्येतिहास को आदिकाल, मध्यकाल, आधुनिक काल केवल तीन कालों में विभक्त किया। उन्होंने रासो काव्य परम्पराओं को एक नवीन रूप देने का प्रयास किया। अतः उनका ग्रंथ अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

**(vi) 'नागरी प्रचारिणी सभा'** ने **'हिन्दी सहित्य का बृहद् इतिहास'** नामक ग्रंथ का प्रकाशन किया। यह ग्रंथ 18 भाग विभक्त है। इसमें हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। सौ से अधिक विद्वानों ने इसे तैयार में सहयोग दिया है। इस ग्रंथ का छठा भाग (रीतिकाल) डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित है।

**(vii) डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय** ने दो साहित्येतिहास ग्रंथ लिखे–**'आधुनिक हिन्दी साहित्य' (1850 से 1900)** तथा **'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (1757 से 1857)**। इन दोनों ग्रंथों में 150 वर्षों के हिन्दी साहित्य का मौलिक अध्ययन किया है। इनमें वार्ष्णेय जी ने भौगोलिक स्थितियों के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में तत्कालीन हिन्दी साहित्य का मूल्यांकन किया है।

**(viii) डॉ. श्रीकृष्ण लाल** ने अपने ग्रंथ **'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास'** (1900 से 1950 ई.) में महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, प्रेमचंद, पंत, जैनेन्द्र कुमार, रामचन्द्र शुक्ल आदि साहित्यकारों तथा उनकी कृतियों का विवेचन किया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के विकास को समझने के लिए डॉ. वार्ष्णेय तथा डॉ. लाल के ग्रंथ काफी उपयोगी हैं।

### *4. आधुनिक काल*

**(i) डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त**–हिन्दी साहित्येतिहास लेखन परम्परा को विकसित करने में डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त का विशेष योगदान रहा है। उनके द्वारा लिखित ग्रंथ **'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'** सन् 1965 में प्रकाशित हुआ। वस्तुतः गुप्त जी ने अनेक वर्षों के मौलिक चिन्तन के पश्चात् कुछ नवीन उद्भावनाओं के साथ इस ग्रंथ को लिखा है। इस ग्रंथ की उल्लेखनीय विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

(क) डॉ. गुप्त ने इतिहास के वैज्ञानिक व्याख्या के लिए सृजनात्मक व्यक्तित्व, परम्परा तथा वातावरण को आधार बनाया है।

(ख) उन्होंने हिन्दी भाषा का आरंभ 11वीं शताब्दी से स्वीकार किया है और **भरतेश्वर बहुबलिरास** को हिन्दी की प्रथम रचना माना है।

Scanned with ACE Scanner

(ग) उनका विचार है कि वीरगाथा काल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल नाम भ्रामक है।

(घ) गुप्तजी ने प्रेमाख्यानक काव्यधारा को शुद्ध भारतीय काव्यधारा स्वीकार किया है।

**(ii) डॉ. नगेन्द्र**–हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन परम्परा में डॉ. नगेन्द्र द्वारा संपादित ग्रंथ **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। यह ग्रंथ हिन्दी शिक्षकों तथा शोधकर्त्ताओं के लिए अत्यधिक उपयोगी है। सामूहिक प्रयास होने के कारण इस ग्रंथ में कुछ स्थानों पर दृष्टिभेद देखा जा सकता है।

हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा निरंतर प्रवाहमान है। इस संदर्भ में कुछ शोध ग्रंथ तथा समीक्षा ग्रंथ भी लिखे गए हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रंथ इस प्रकार हैं–

| | | |
|---|---|---|
| 1. | हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास | – डॉ. भागीरथ मिश्र |
| 2. | रीति-काव्य की भूमिका | – डॉ. नगेन्द्र |
| 3. | उत्तरी भारत की संत परम्परा | – डॉ. परशुराम चतुर्वेदी |
| 4. | साहित्य का इतिहास दर्शन | – डॉ. नलिन विलोचन शर्मा |
| 5. | हिन्दी वीर काव्य | – डॉ. टीकम सिंह तोमर |
| 6. | चैतन्य सम्प्रदाय और उसका इतिहास | – डॉ. प्रभुदयाल मीतल |
| 7. | राधावल्लभ सम्प्रदाय–सिद्धांत और साहित्य | – डॉ. विजयेन्द्र स्नातक |
| 8. | राजस्थानी भाषा और साहित्य | – डॉ मोतीलाल मनेरिया |
| 9. | राजस्थान का पिंगल साहित्य | – डॉ. मोतीलाल मनेरिया |
| 10. | रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय | – डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह |
| 11. | भक्तिकालीन खंडकाव्य | – डॉ. सियाराम तिवारी |
| 12. | रीतिकाल का प्रबंध काव्य | – डॉ. इन्द्रपाल सिंह |
| 13. | आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास | – डॉ. बच्चन सिंह |
| 14. | हिन्दी साहित्य और संवेदना का इतिहास | – डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी |

अतः संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की परम्परा का सूत्रपात फ्रेंच विद्वान गार्सा द तासी ने किया। जार्ज ग्रियर्सन, शिवसिंह सेंगर आदि विद्वानों ने उस परम्परा के विकास का मार्ग खोला तथा परवर्ती साहित्यकारों ने नए-नए दृष्टिकोणों, चिन्तन पद्धति आदि के द्वारा इसके सतत् प्रवाह को बनाए रखने में योगदान दिया और यह प्रक्रिया आज भी अनवरत रूप में जारी है।

◆◆◆

## 1.2 साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ

**हिन्दी साहित्येतिहास के पुनः लेखन संबंधी कौन-कौन सी समस्याएँ हैं? विस्तार से लिखिए।**

*अथवा*

**हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन संबंधी समस्याओं पर प्रकाश डालिए।**

**उत्तर–हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ**–हिन्दी साहित्य का इतिहास लगभग 1000 वर्ष पुराना है। समय-समय पर इसके बारे में अनेक इतिहासकारों में अपने-अपने दृष्टिकोण से अपने समय में उपलब्ध साहित्येतिहास लेखन संबंधी आधारभूत सामग्री के आधार पर हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने का प्रयास किया है। आज भी विभिन्न हिन्दी इतिहास लेखक, विद्वान इस दिशा में अग्रसर है। चूंकि हिन्दी साहित्य का इतिहास लगभग एक हजार वर्ष पुराना है और इसकी कड़ियाँ पिछले साहित्य से भी जुड़ती है तथा इसकी आधारभूत सामग्री भी यत्र-तत्र संपूर्ण भारतवर्ष में बिखरी पड़ी है, साथ ही निजी एवं विश्वविद्यालयी स्तर पर अनेक इतिहासपरक शोध कार्य हो रहे है, अतः इन सबको समेटकर एक इतिहास लेखक द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन करना सदैव एक कठिन कार्य रहा है। सामान्यतः हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन करते समय लेखकों को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, वे निम्नलिखित हैं–

Scanned with ACE Scanner

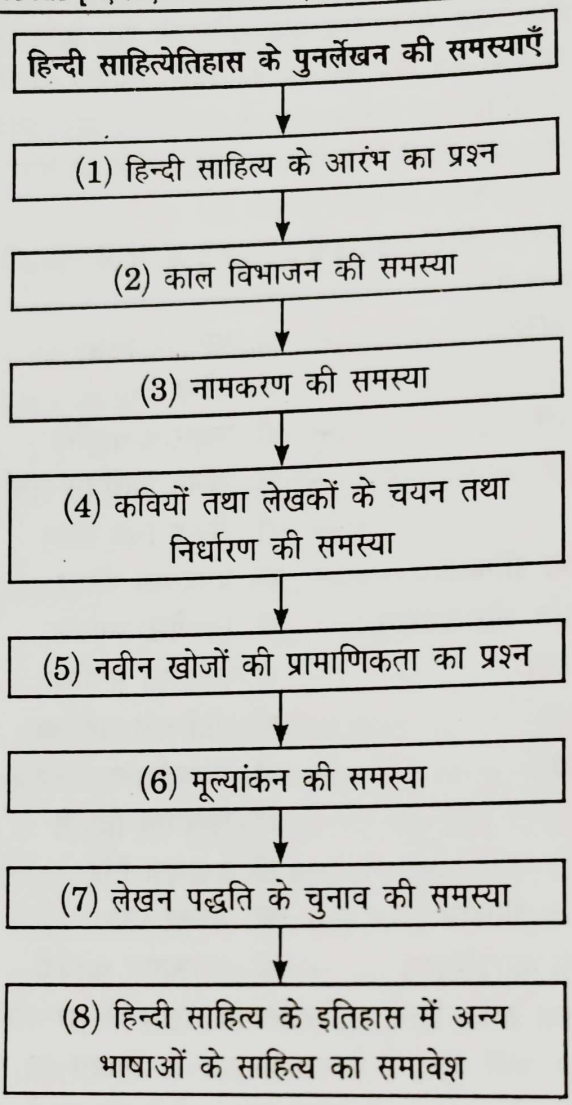


**1. हिन्दी साहित्य के आरंभ का प्रश्न**–हिन्दी साहित्य का आरंभ कब से शुरू किया जाए यह एक विवादास्पद प्रश्न बना हुआ है। हिन्दी साहित्येतिहासकारों ने अलग-अलग मत प्रस्तुत किए हैं। सबसे पहले हमारे सामने शिवसिंह सेंगर का दृष्टिकोण प्रस्तुत है। उन्होंने अपने साहित्येतिहास ग्रंथ **शिवसिंह सरोज** में हिन्दी साहित्य का आरंभ सातवीं शताब्दी से स्वीकार किया और पुष्य नामक कवि को हिन्दी का प्रथम कवि घोषित किया है। परन्तु इस कवि के बारे में कुछ भी ज्ञात नहीं है और न ही उसकी कोई रचना उपलब्ध होती है। इधर जार्ज ग्रियर्सन और मिश्रबन्धुओं ने **शिवसिंह सेंगर** का अनुसरण करते हुए सातवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य का आरंभ माना है। मिश्रबन्धु भी इसी का समर्थन करते हैं। पण्डित राहुल सांकृत्यायन ने 7वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि माना है। उसका समय 769 ई. है। उनकी रचना का अनुवाद तिब्बती भाषा में हुआ। बाद में राहुल जी ने इसका हिन्दी में अनुवाद किया। परन्तु आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सम्वत् 1050 से हिन्दी साहित्य का आरंभ माना है। परन्तु शुक्ल जी का यह मत अन्य विद्वानों को स्वीकार नहीं हुआ। कारण यह है कि जिन रचनाओं के आधार पर उन्होंने अपने मत का निर्धारण किया था वे लगभग सभी अप्रामाणिक हैं। इनमें से कुछ रचनाएँ बाद की हैं। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त तथा डॉ. हरीश्चन्द्र वर्मा ने 12वीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य का आरंभ माना है। उनका विचार है कि **भरतेश्वर बाहुबलि रास** ही हिन्दी साहित्य की प्रथम रचना है। इसके कवि शालिभद्र सूरी हैं जिनका समय 1184 ई. माना गया है। डॉ. माताप्रसाद गुप्त, डॉ. दशरथ ओझा आदि विद्वानों ने भी इसी रचना को हिन्दी की प्रथम रचना कहा है परन्तु डॉ. हरीश्चन्द्र वर्मा वज्रसेन सूरी रचित भरतेश्वर बाहुबलि रास को हिन्दी की प्रथम रचना कहते हैं।

डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ. उदय नारायण तिवारी आदि ने भाषा विज्ञान की दृष्टि से हिन्दी पर चिंतन किया। उन्होंने 14वीं शताब्दी से हिन्दी भाषा का आरंभ माना है। उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि हिन्दी साहित्य भाषा का आरंभ 12वीं शताब्दी से ही हुआ होगा।

**2. काल विभाजन की समस्या**–हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन में सबसे पहले काल विभाजन की समस्या आगे आती है।

Scanned with ACE Scanner

हिन्दी-साहित्य का काल विभाजन किस आधार पर किया जाए, उसका प्रारंभ कब से माना जाए–इन सभी विषयों पर साहित्येतिहास में मतभेद है। उदाहरण के लिए जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य का प्रारंभ 700 ई. से माना है, तो आचार्य शुक्ल ने सम्वत् 1050 से माना है। उसके बाद के साहित्येतिहासकारों में डॉ. रामकुमार वर्मा ने सम्वत् 750 से हिन्दी साहित्य का आरंभ माना है। इसी प्रकार काल विभाजन में भी विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। जार्ज ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को कुल बारह भागों में, मिश्रबन्धुओं ने पाँच भागों में, शुक्ल ने चार भागों में बांटा है। अतः हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन में सबसे पहले काल विभाजन की समस्या सामने आती है। नवीन खोजों, विद्वानों के अपने भिन्न मतों आदि के कारण किसी साहित्येतिहास के काल विभाजन को अंतिम रूप से सत्य मानकर स्वीकार नहीं किया जा सकता। वैसे भी किसी भी नई साहित्यिक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव एक दिन में नहीं होता है। अतः साहित्येतिहास लेखन सामान्य इतिहासकार की भाँति यह नहीं कह सकता कि अमुक दिनांक या वर्ष तक इस साहित्यिक प्रवृत्ति का प्रचलन था तथा उसके अगले दिन किसी नई साहित्यिक प्रवृत्ति का आरंभ हुआ।

डॉ. रामकुमार वर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तथा डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी आदि ने हिन्दी साहित्य के काल विभाजन के बारे में अपने-अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। परन्तु डॉ. नगेन्द्र ने अपने साहित्येतिहास के ग्रंथ 'हिन्दी साहित्येतिहास' में जो काल विभाजन प्रस्तुत किया है वह कुछ सीमा तक तर्कसंगत तथा उचित कहा जा सकता है–

**(i) आदिकाल**–7वीं शताब्दी से 14वीं शताब्दी के मध्य तक।

**(ii) भक्तिकाल**–14वीं शताब्दी के मध्य से 17वीं शताब्दी के मध्य तक।

**(iii) रीतिकाल**–17वीं शताब्दी के मध्य से 19वीं शताब्दी के मध्य तक।

**(iv) आधुनिक काल**–19वीं शताब्दी के मध्य से आज तक।

उन्होंने आधुनिक काल का पुनः चार खंडों में विभाजन किया है–

**(i) पुनर्जागरण काल**–सन् 1857 से सन् 1900 (भारतेन्दु युग)

**(ii) जागरण-सुधार काल**–सन् 1900 से सन् 1918 (द्विवेदी युग)

**(iii) छायावाद काल**–सन् 1918 से सन् 1938

**(iv) छायावादोत्तर काल**–

प्रगति-प्रयोग काल – सन् 1938 से सन् 1953

नव लेखन काल – सन् 1953 से आज तक।

**3. नामकरण की समस्या**–हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन में काल विभाजनों का नामकरण करना भी एक समस्या के रूप में उभरकर आता है। कोई साहित्येतिहासकार किसी युगीन साहित्य की प्रवृत्तियों के आधार पर उस युग का नामकरण करना चाहता है तो कोई साहित्यकार के नाम पर उस युग का नामकरण चाहता है। उदाहरण के लिए जार्ज ग्रियर्सन ने अपने साहित्येतिहास में काल विभाजन करके उनका नामकरण कवि, सम्प्रदाय और साहित्यिक प्रवृत्ति के आधार पर किया है। जैसे–

(i) चारण काल (ii) पन्द्रहवीं शताब्दी का धार्मिक पुनर्जागरण

(iii) जायसी और उनकी कविता (iv) ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय

(v) मुगल दरबार (vi) तुलसीदास आदि।

उदाहरण के रूप में आदिकाल के नामकरण को लेकर विद्वानों के मतों में काफी मतभेद देखा जा सकता है। मिश्रबन्धुओं ने इसे 'प्रारंभिक काल' नाम दिया तो आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने 'वीरगाथा काल' कहा। परन्तु आचार्य शुक्ल का मत अधिकांश विद्वानों को मान्य नहीं हुआ। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का दिया गया नामकरण आदिकाल सभी को स्वीकार्य है और यह मिश्रबन्धुओं द्वारा किए गए नामकरण से बहुत मेल खाता है।

इसी प्रकार रीतिकाल का नामकरण भी विवादास्पद बना रहा। इसे शृंगारकाल, अलंकृत काल, कला काल आदि नाम दिए गए। परन्तु आचार्य शुक्ल द्वारा किया गया नामकरण रीतिकाल मात्र स्वीकार्य है। किसी भी कालखंड का नामकरण करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाना चाहिए कि वह न तो विवादग्रस्त हो और न ही अतिव्याप्ति अथवा अव्याप्ति दोष से ग्रसित हो। इस संदर्भ में डॉ. नगेन्द्र का निम्नलिखित कथन काफी महत्त्वपूर्ण है–**"नामकरण के पीछे कुछ न कुछ तर्क अवश्य रहता है और रहना चाहिए। नामकरण की सार्थकता इसी बात में है कि वह पदार्थ के गुण अथवा धर्म को मुख्य घोषित कर सके। किसी भी कालखंड का नामकरण करते समय यह तो ध्यान में रखना चाहिए कि वह नामकरण न तो विवादास्पद हो, न अतिव्याप्ति दोष से ग्रसित हो और न ही अव्याप्ति दोष से ग्रसित हो। संक्षेप में नामकरण संक्षिप्त तथा विषयानुकूल होना चाहिए।"**

Scanned with ACE Scanner

**4. कवियों तथा लेखकों के चयन तथा निर्धारण की समस्या**–हिन्दी भाषा का क्षेत्र बड़ा ही व्यापक है। अतः साहित्येतिहास लिखते समय प्रायः यह समस्या उत्पन्न होती है कि किस कवि अथवा साहित्यकार को हिन्दी साहित्येतिहास में स्थान दिया जाए और किसे छोड़ दिया जाए। इसी प्रकार यह भी एक समस्या बनी हुई है कि साहित्यकार का चयन करते समय कौन-सा मापदंड अपनाया जाए। यह भी समस्या बनी हुई है कि आदिकाल, भक्तिकाल तथा रीतिकाल में राजस्थानी, अवधी तथा ब्रजभाषा के कवियों को जब स्थान देते हैं तो आधुनिक काल में इन भाषाओं के रचनाकारों को साहित्येतिहास में स्थान क्यों नहीं दिया जाता है।

साहित्येतिहासकार यह दोहरा मापदंड क्यों अपनाते हैं। पुनः साहित्यकारों तथा उनकी रचनाओं के चयन की समस्या भी ज्यों की त्यों हमारे सामने बनी हुई है। प्रयास तो यह रहना चाहिए कि साहित्येतिहास का पुनर्लेखन करते समय सभी साहित्यकारों को उनके काल में उचित स्थान दिया जाए। केवल यही मापदंड अपनाया जा सकता है कि उस साहित्यकार की रचना हिन्दी साहित्य के लिए उपयोगी हो और उसने हिन्दी साहित्येतिहास में योगदान दिया हो। इसके साथ-साथ साहित्येतिहासकारों को विभिन्न साहित्यकारों तथा उनकी रचनाओं तथा प्रवृत्तियों का सही मूल्यांकन भी करना चाहिए। उदाहरण के रूप में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास ग्रंथ में प्रेममार्गी शाखा के केवल सात कवियों को स्वीकार किया। परन्तु ज्ञानमार्गी शाखा में सोलह कवियों को स्वीकार किया। इसी प्रकार उन्होंने राम काव्यधारा में केवल पाँच कवियों को सम्मिलित किया और कृष्ण काव्यधारा में सत्रह कवियों को। यह नवीन शोध का परिणाम है कि साहित्येतिहास लेखकों ने शुक्ल जी की कमियों को दूर किया और साहित्येतिहास ग्रंथ में उन सभी कवियों को स्थान दिया जो किसी काव्यधारा से संबंधित थे।

**5. नवीन खोजों की प्रामाणिकता का प्रश्न**–हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में इतिहासकार के समक्ष अपनी नवीन खोजों की प्रामाणिकता की भी समस्या आती है। उदाहरण के लिए हिन्दी के प्रथम कवि के संबंध में अधिकांश साहित्येतिहासकारों में मतभेद है। इसी प्रकार सूरदास कृत 'साहित्य लहरी' तथा 'सूरसारावली' की प्रामाणिकता के संबंध में विद्वान दो गुटों में बंटे दिखाई देते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' की प्रामाणिकता को लेकर अधिकांश साहित्येतिहासकारों ने अपने अलग-अलग मत दिखाए हैं। ऐसी स्थिति में बिना किसी ठोस प्रमाण व मापदंड के नया साहित्येतिहासकार किस पक्ष में अपना विचार प्रकट करे। उसके लिए यह निर्णय करना भी एक समस्या के रूप में उभरता है। इसी प्रकार पहला प्रेमाख्यान काव्य, पहली कहानी, पहला उपन्यास आदि के संबंध में भी प्रामाणिकता का अभाव बना हुआ है।

इस संदर्भ में निरंतर शोध करने की आवश्यकता बनी है। जब तक इसका सही निर्णय नहीं हो जाता तब तक यह कहना कठिन है कि हिन्दी साहित्य के प्रथम प्रेमाख्यान कवि कौन है अथवा प्रथम उपन्यास कौन-सा है अथवा प्रथम कहानीकार कौन है।

**6. मूल्यांकन की समस्या**–साहित्येतिहास लेखन में साहित्येतिहासकार को तटस्थ रहकर ही साहित्यकारों तथा उनकी रचनाओं का मूल्यांकन करना होता है। सही अर्थों में रचनाकारों, उनकी रचनाओं तथा उनकी प्रवृत्तियों के सटीक मूल्यांकन से ही किसी साहित्येतिहास की श्रेष्ठता और साहित्येतिहास की शक्ति का पता चलता है। परन्तु अधिकांश साहित्येतिहासकार अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों, रुचियों आदि के कारण निष्पक्ष एवं तटस्थ नहीं रह पाते तथा वे अपने साहित्येतिहास में अपनी रुचि के अनुकूल तथा श्रद्धा-पात्र साहित्यकारों के प्रति थोड़ा उदार भाव अपनाते हैं। उदाहरण के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने श्रेष्ठ कवि तुलसीदास के साथ बार-बार सम्मानसूचक शब्द 'जी' का प्रयोग करके उनके प्रति दृढ़ आस्था तथा निष्ठा को दर्शाया है तथा 'रामचरितमानस' में प्रयुक्त कतिपय त्रुटियों की अवहेलना करके कवि तथा कृति दोनों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। परन्तु अन्य संत या भक्त कवियों–कबीर, सूरदास के प्रति वे वैसा उदार दृष्टिकोण नहीं अपना सके। अतः साहित्येतिहास लेखन में कृतित्व का समुचित मूल्यांकन भी एक समस्या है।

**7. साहित्येतिहास लेखन पद्धति के चुनाव की समस्या**–साहित्येतिहास लेखन की पद्धति का विशेष महत्त्व है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के जितने भी प्रयास किए गए उनमें इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। विशेषकर, जार्ज ग्रियर्सन, मिश्रबन्धुओं आदि ने अपने-अपने साहित्येतिहास ग्रंथ में केवल कवियों का परिचय देना ही इतिहास लेखन पद्धति को मान लिया था जो कि सर्वथा असंगत था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल प्रथम साहित्येतिहास लेखक हैं जिन्होंने वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए हिन्दी साहित्येतिहास का लेखन किया। उन्होंने न केवल साहित्यिक और सामाजिक प्रवृत्तियों का विवेचन किया बल्कि काल विभाजन भी किया। उनका दृष्टिकोण पूर्णतया मौलिक था। आगे चलकर डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त ने पूर्णतया वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाते हुए **'हिन्दी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास'** नामक ग्रंथ लिखा। इसी दृष्टिकोण के कारण ही उन्होंने भक्तिकाल में तेरह काव्य परम्पराओं को समाहित किया। डॉ. नगेन्द्र ने प्रत्येक काल की साहित्यिक प्रवृत्तियों को आधार बनाकर **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** नामक ग्रंथ लिखा परन्तु

Scanned with ACE Scanner

यह पद्धति भी दोष मुक्त नहीं है। डॉ. नगेन्द्र के बाद तो अनेक साहित्येतिहास ग्रंथ लिखे गए और आज भी लिखे जा रहे हैं। यद्यपि नवीन शोध प्रबंध भी तैयार हो रहे हैं परन्तु फिर भी कुछ न कुछ त्रुटियां रह जाती हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि सर्वप्रथम साहित्येतिहास लेखन में ऐसी पद्धति का निर्धारण किया जाना चाहिए जो सभी विद्वानों को मान्य हो। तत्पश्चात् इसे आधार बनाकर हिन्दी साहित्येतिहास का ग्रंथ लिखा जाना चाहिए। बाजार में हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के अनेक ग्रंथ उपलब्ध होते हैं जो प्रायः हमारे शोधार्थियों को दिग्भ्रांत करते हैं। हिन्दी साहित्य के चारों काल एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। उदाहरण के रूप में भक्तिकाल की कुछ प्रवृत्तियाँ रीतिकाल में भी देखी जा सकती हैं परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और भक्तिकाल की प्रवृत्तियों को रीतिकाल में जोड़ दिया। इस संदर्भ में **गणपति चन्द्रगुप्त** ने उचित ही लिखा है–**''अस्तु, हम चाहे जिस पद्धति का अनुगमन करें, हमारे इतिहास ग्रंथों में यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित किया जाना चाहिए कि हमारे उत्तर मध्यकाल में केवल रीति या शास्त्रीय काव्य की ही धारा प्रचलित नहीं रही, उसके साथ-साथ स्वच्छंद प्रेम काव्य, वीर रसात्मक रासो काव्य, ऐतिहासिक चरितकाव्य, वीर रसात्मक मुक्तक काव्य, संत काव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, पौराणिक भक्ति काव्य और रसिक भक्ति काव्य की आठों धाराएं, समानांतर रूप में समान गति में अविरल रूप से प्रवाहित होती रही हैं।''**

**8. हिन्दी साहित्य के इतिहास में अन्य भाषाओं के साहित्य का समावेश**–हिन्दी साहित्येतिहास में अन्य भाषाओं के साहित्य का समावेश करना या न करना, यह भी एक समस्या के रूप में उभरा है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि मैथिली, ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि उपभाषाओं का साहित्य आरंभ से ही हिन्दी साहित्य का अभिन्न अंग माना गया है तथा आधुनिक काल में भारतेन्दु युगीन तथा ब्रज में रचित साहित्य का भी हिन्दी साहित्य में समावेश किया गया है। परन्तु तत्पश्चात् इन उपभाषाओं की रचनाओं को सम्मिलित नहीं किया जाता है, जबकि इन उपभाषाओं में आज भी साहित्य रचना की धारा प्रवाहित हो रही है।

इसके अतिरिक्त एक अन्य समस्या अनुदित रचनाओं को हिन्दी साहित्य में सम्मिलित करने से जुड़ी है। क्या हिन्दी में अनुदित रचनाओं को भी हिन्दी साहित्य में स्थान दिया जाए? यदि इसका उत्तर 'हाँ' है, तो क्या विश्व की अन्य भाषाओं में अनुदित रचनाओं को भी उसमें स्थान दिया जाए या केवल अन्य भारतीय भाषाओं में रचित साहित्य के हिन्दी में अनुदित ग्रंथ को ही साहित्येतिहास में स्थान दिया जाए। उदाहरण के लिए प्रेमचंद कृत 'सेवासदन', 'प्रेमाश्रम' व 'रंगभूमि' उपन्यास मूल रूप से उर्दू में लिखे गए थे तथा बाद में उनका अनुवाद हुआ। इस प्रकार ये उपन्यास उर्दू व हिन्दी साहित्य दोनों में स्थान पाते हैं। गुरुमुखी लिपि में रचित हिन्दी गद्य-पद्य की भी ऐसी ही स्थिति है।

अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हिन्दी साहित्येतिहास पुनर्लेखन में अनेक समस्याएँ उभरकर सामने आती हैं। परन्तु जिस गति से हिन्दी साहित्य में नवीन शोध किए जा रहे हैं, नई-नई पद्धतियों के आधार पर साहित्येतिहास लिखे जा रहे हैं तथा अभी तक अप्राप्य ग्रंथ प्रकाश में आ रहे हैं, उसे देखकर यह लगता है कि निश्चय ही निकट भविष्य में साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की इन समस्याओं से मुक्ति पा ली जाएगी।

◆◆◆

---

**2. हिन्दी साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की आधारभूत सामग्री का विवेचन कीजिए।**

*अथवा*

**हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की आधारभूत सामग्री कौन-कौन सी है? तर्क सहित उत्तर दीजिए।**

---

**उत्तर–हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की आधारभूत सामग्री**–साहित्येतिहास लेखन की प्रक्रिया बड़ी जटिल है। यह सामान्य रचनाओं से सर्वथा भिन्न है। हिन्दी साहित्येतिहास लेखक को सर्वप्रथम साहित्येतिहास लेखन की सामग्री का निर्धारण करना होता है। यह सामग्री ही साहित्येतिहास लेखन का मूल आधार है। परन्तु इस सामग्री का संकलन या निर्धारण करते समय अत्यधिक सावधानी अपनानी पड़ती है। क्योंकि यदि सामग्री ही त्रुटिपूर्ण होगी तो साहित्येतिहास प्रामाणिक नहीं होगा। इस सामग्री को दो भागों में विभक्त कर सकते हैं–

(क) अन्तःसाक्ष्य से संबंधित सामग्री (ख) बाह्य साक्ष्य से संबंधित सामग्री।

(क) **अन्तः साक्ष्य से संबंधित सामग्री**–अन्तःसाक्ष्य के अन्तर्गत उपलब्ध सामग्री को हम तीन वर्गों में विभक्त कर सकते हैं–

1. भक्त एवं संत कवियों से संबंधित रचनाएँ
2. कवियों से संबंधित काव्य-संग्रह
3. साहित्यकारों तथा कवियों की प्रकाशित तथा अप्रकाशित रचनाएँ।

Scanned with ACE Scanner

**(ख) बाह्य साक्ष्य से संबंधित सामग्री** को चार भागों में

1. प्राचीन ऐतिहासिक स्थल
2. शिलालेख तथा वंशावलियाँ
3. जनश्रुतियों द्वारा प्राप्त सूचनाएँ
4. साहित्यिक सामग्री
5. विभिन्न कालों की परिस्थितियों से संबंधित सूचनाएँ और सामग्री।

### (क) अन्तःसाक्ष्य

डॉ. रामकुमार वर्मा ने अन्तःसाक्ष्य के अन्तर्गत अनेक ग्रंथों का उल्लेख किया है। ये सभी ग्रंथ साहित्येतिहास लेखन के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध कराते हैं।

**1. चौरासी वैष्णवन की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता एवं भक्तमाल**–ये दोनों आधारभूत सामग्री के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इनका रचनाकाल सम्वत् 1665 ई. में स्वीकार किया गया है। इनके रचयिता गोकुलनाथ हैं। इनमें पुष्टिमार्ग में दीक्षा लेने वाले वैष्णवों की जीवनियाँ दी गई हैं। अष्टछाप के सभी कवि भी इसमें सम्मिलित हैं। इसी क्रम में नाभादास की **'भक्तमाल'** एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसका रचनाकाल सम्वत् 1642 ई. स्वीकार किया गया है। इसमें कुल 107 छंद हैं। इसमें वैष्णव भक्तों की जीवनियाँ सम्मिलित हैं। ये तीनों ग्रंथ अन्तःसाक्ष्य की दृष्टि से अत्यधिक उपयोगी कहते जा सकते हैं, क्योंकि इनमें भक्तिकालीन कवियों से संबंधित अनेक सूचनाएँ प्राप्त होती हैं।

**2. श्री गुरु ग्रंथ साहिब**–अन्तःसाक्ष्य की सामग्री का यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। भले ही यह सिख धर्म का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, परन्तु हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में इसकी उपयोगिता असंदिग्ध है। श्री गुरु अर्जुन देव ने इस ग्रंथ में कुछ संतों तथा गुरुओं की वाणी का संकलन 1604 ई. में किया। इसमें नामदेव, कबीर, नानक, रैदास आदि 16 संतों की वाणी सम्मिलित है।

**3. गोसाईं चरित**–इसके रचयिता बाबा बेनी माधवदास हैं तथा इसकी रचना सम्वत् 1630 में हुई। इसमें लेखक ने गोस्वामी तुलसीदास का जीवनवृत्त दोहा-चौपाई शैली में दिया है। तुलसीदास के जीवन को जानने के लिए यह ग्रंथ काफी उपयोगी कहा जा सकता है।

**4. भक्त नामावली**–इसके रचयिता ध्रुवदास हैं तथा इसका समय सम्वत् 1635 है। इस रचना में 1600 भक्तों का संक्षिप्त जीवन-परिचय दिया गया है।

**5. कविमाला**–इसके रचनाकार तुलसी हैं, परन्तु यह रामचरितमानस के कवि तुलसीदास से अलग व्यक्ति हैं। इसकी रचना सम्वत् 1655 में हुई। इसमें कवि ने सम्वत् 1443 से 1643 तक की 75 काव्य रचनाओं का उल्लेख किया है। यह रचना हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में काफी उपयोगी कही जा सकती है।

**6. कालिदास हजारा**–इसके रचनाकार कालिदास त्रिवेदी हैं। सम्वत् 1775 में इसकी रचना हुई। इस ग्रंथ में दो सौ बावन कवियों की एक हजार कविताओं का संकलन किया गया है। इस ग्रंथ का महत्त्व इसी बात से आंका जा सकता है कि शिवसिंह सेंगर ने इस ग्रंथ को आधार बनाकर **'शिवसिंह सरोज'** की रचना की, जो कि हिन्दी साहित्येतिहास का महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है।

**7. काव्य निर्णय सतकवि गिराविलास तथा कवि नामावली**–काव्य निर्णय के रचयिता रीतिकालीन कवि भिखारीदास हैं तथा इसका रचनाकाल 1685 ई. है। सतकवि गिराविलास का रचनाकाल 1764 ई. माना जाता है। इसमें चिन्तामणि, केशव, मतिराम, बिहारी आदि 17 कवियों की रचनाएँ सम्मिलित हैं। इसी प्रकार **कवि नामावली** रीतिकाल का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ माना जाता है। इसके रचयिता कवि सूदन हैं। इसकी रचना 1753 ई. में हुई। इसमें कवि ने दस कवियों के नाम गिनवाकर उनका विनम्र निवेदन व्यक्त किया है।

**8. विद्वान मोद तरंगिणी तथा शृंगार संग्रह**–'विद्वान मोद तरंगिणी', के संकलनकर्ता सूदसिंह हैं। इसका रचनाकाल 1868 ई. से 1874 ई. है। इसमें 45 कवियों की रचनाओं का संकलन है। सरदार कवि के 'शृंगार-संग्रह' में काव्य के विविध अंगों के निरूपण के साथ-साथ 125 कवियों की कविताओं के उदाहरण दिए गए हैं।

**9. 'राग सागरोद्भव-राग कल्पद्रुम' एवं रस चंद्रोदय**–प्रथम रचना सम्वत् 1900 में लिखी गई। इसके लेखक का नाम कृष्णानन्द व्यास देव है। यह तीन भागों में विभक्त है। ठाकुर प्रसाद त्रिपाठी ने **रसचन्द्रोदय** की रचना की। इसका रचनाकाल 1563 ई. है। इसमें बुन्देलखंड के 242 कवियों की रचनाएँ संकलित हैं।

**10. दिग्विजय भूषण तथा सुन्दरी तिलक**–गोकुल प्रसाद ब्रज ने **'दिग्विजय भूषण'** में 92 कवियों के काव्य संग्रहों का संकलन किया। इसकी रचना 1868 ई. में हुई। **'सुन्दरी तिलक'** की रचना भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने की है। इसका रचनाकाल 1869 ई. है। भारतेन्द्र जी ने इसमें 99 कवियों के सवैये संकलित किए हैं।

Scanned with ACE Scanner

**11. काव्य संग्रह तथा कवित्त रत्नाकर**–महेशदत्त ने **काव्य संग्रह** का संकलन किया। इसका रचनाकाल 1575 ई. है। इसमें अनेक कवियों की काव्य रचनाएँ सम्मिलित हैं। **मातादीन मिश्र** ने **'कवित्त रत्नाकर'** का संकलन किया। इसमें 20 कवियों की काव्य रचनाएँ सम्मिलित हैं। इसका रचनाकाल 1576 ई. है तथा इसमें कुल 20 कवियों की काव्य रचनाएँ संकलित की गई हैं।

**12. शिवसिंह सरोज**–यह शिवसिंह सेंगर का एक महत्त्वपूर्ण इतिहास ग्रंथ है। अन्तःसाक्ष्य की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है तथा हिन्दी इतिहास लेखन में इस ग्रंथ का विशेष योगदान रहा है। इसका रचनाकाल 1883 ई. है तथा इसमें कुल 100 कवियों का जीवन-परिचय तथा उनकी कविताओं से कुछ उदाहरण दिए गए हैं। जार्ज ग्रियर्सन ने इसी ग्रंथ के आधार पर **'द मॉडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान'** की रचना की थी।

**13. विचित्रोपदेश तथा कवि रत्नमाला**–विचित्रोपदेश ग्रंथ में अनेक कवियों की कविताएँ दी गई हैं तथा इसका रचना काल 1887 ई. है। **कवि रत्नमाला** के रचयिता का नाम देवीदास है। इस ग्रंथ में राजस्थान के 108 कवियों की कविताएँ तथा उनका जीवन-परिचय दिया गया है। इस ग्रंथ का रचनाकाल 1911 ई. है।

**14. हफीजुल्ला खाँ हजारा**–यह ग्रंथ दो भागों में प्राप्त है तथा इसमें अनेक कवियों के कवित्त और सवैये संकलित हैं। हिन्दी के कवियों के अध्ययन में यह ग्रन्थ काफी सहायक है।

**15. संतवाणी संग्रह तथा अन्य संतों की वाणी**–इसमें कुल 24 संत कवियों के जीवन-परिचय, काल तथा उनके संग्रहों का परिचय दिया गया है। यह ग्रंथ भक्तिकालीन संत कवियों के लिए काफी उपयोगी हो सकता है।

**16. सिलेक्शन फ्रॉम हिन्दी लिटरेचर**–लाला सीताराम ने इस ग्रंथ में कुछ कवियों की रचनाओं का संकलन किया है। इस ग्रंथ में उन्होंने हिन्दी साहित्य के कवियों की न केवल आलोचना की है बल्कि उनकी सूक्तियों का भी संग्रह किया है।

अन्ततः साक्ष्य की दृष्टि से उपर्युक्त सभी रचनाएँ काफी महत्त्वपूर्ण हैं तथा हिन्दी साहित्येतिहास लेखन में इनका प्रयोग किया गया है। इन काव्य संग्रहों की विषय-वस्तु से यह पता चल जाता है कि कवियों की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ कौन-कौन सी हैं। इसी प्रकार कुछ कवियों के जीवन पर भी समुचित प्रकाश डाला गया है। हिन्दी साहित्येतिहास के लेखकों ने इन रचनाओं से सहायता प्राप्त की है।

### *(ख) बाह्य साक्ष्य*

बाह्य साक्ष्य के अन्तर्गत साहित्यिक सामग्री की चर्चा की जाती है जिसमें प्राचीन साहित्य, इतिहास, शिलालेखों तथा जनश्रुतियों आदि की चर्चा की जाती है। साहित्येतिहास की दृष्टि से यह सामग्री काफी उपयोगी है–

**1. साहित्यिक सामग्री**–**'कर्नल टाड का राजस्थान'** (सम्वत् 1889), **नागरी प्रचारणी सभा**, मोतीलाल मनेरिया द्वारा रचित **'राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथ** (हिन्दूइज्म एवं ब्राह्मणिज्म), **'कबीर एवं द कबीर पंथ', 'हिस्टरी ऑफ द सिक्ख रिलिजन', 'इण्डियन विजन', 'ए डिस्क्रिटिव केटेलॉग ऑफ वार्डिक एण्ड हिस्टॉरिकल मैन्युस्क्रिप्ट'** एवं **'आउटलाइन ऑफ दि रिलीजियस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, गोरखनाथ एण्ड दि कनफटा योगीज'** आदि कुछ उल्लेखनीय ग्रंथ हैं जिन्हें हम साहित्यिक सामग्री के अन्तर्गत समाहित कर सकते हैं। यदि इन ग्रंथों का गम्भीरता से अध्ययन किया जाए तो हिन्दी साहित्येतिहास लेखन के लिए पर्याप्त सामग्री मिल सकती है।

**2. प्राचीन शिलालेख**–भारत में बहुत से प्राचीन शिलालेख ऐसे भी हैं जो ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डालने में समर्थ हैं। उदाहरण के रूप में चन्देल राजा परमाल का जॉन शिलालेख तथा आबू परवत के राजा शलरव के शिलालेख, तत्कालीन इतिहास संबंधी कुछ सूचनाएँ दे सकते हैं। **'कबीर चौरा, 'अस्सी घाट', 'कबीर की समाधि', 'राजापुर में तुलसी की पत्थर मूर्ति', 'सोरों में तुलसी के स्थान के अवशेष तथा नरसिंह जी का मंदिर'** कुछ ऐसे प्राचीन स्थान हैं जिनका विशेष महत्त्व है। इन ऐतिहासिक स्थानों से भी साहित्येतिहास लेखन में सहायता ली जा सकती है।

**3. जनश्रुतियाँ**–साहित्येतिहास लेखन में जनश्रुतियों का भी प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु इनका प्रयोग करते समय सावधानी बरतनी चाहिए। यद्यपि इन जनश्रुतियों में कुछ सत्य भी होते हैं। परन्तु इनकी प्रामाणिकता संदेहास्पद होती है। जनश्रुति एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति को सुनाया गया एक प्रसंग होता है जिसमें न केवल परिवर्तन और परिवर्धन होता है, बल्कि अतिरंजना भी होती है। फिर भी साहित्येतिहास लेखक या सच्चा खोजी जनश्रुतियों में से भी उपयोगी सामग्री खोज निकालता है।

Scanned with ACE Scanner

### (ग) सामग्री का निरीक्षण

समस्या यह है कि भारतीय कवियों और साहित्यकारों ने अपने नाम और यश को महत्त्व नहीं दिया। यही कारण है कि गोरखनाथ, कबीरदास आदि के जीवन तथा काल के बारे में कुछ भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके लिए साहित्येतिहास को जनश्रुतियों का ही सहारा लेना पड़ता है। **भक्तमाल** तथा **वार्ता** साहित्य में जो भक्तों तथा कवियों के जीवन-चरित्र का वर्णन मिलता है, उसमें न तिथियों की कोई सूचना दी गई और न ही कवियों तथा साहित्यकारों ने अपने जीवन की सूचना दी है। इसलिए यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि हिन्दी साहित्य की आधारभूत सामग्री न्यून मात्रा में ही उपलब्ध है। जो थोड़ी-बहुत सामग्री प्राप्त है वह प्रामाणिक साहित्येतिहास लेखन के लिए उपयोगी नहीं कही जा सकती। अतः साहित्येतिहास के पुनर्लेखन की समस्याएँ आज भी प्रश्न-चिह्न बनी हुई हैं।

इन बाधाओं के बावजूद हिन्दी साहित्य के कुछ सुप्रसिद्ध साहित्येतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास का पुनर्लेखन किया। इनमें मिश्रबंधु, जार्ज ग्रियर्सन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. रामकुमार वर्मा, डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त, डॉ. हरीश शर्मा आदि के नाम गिनवाए जा सकते हैं। इस दिशा में अनुसंधान तथा शोध का कार्य भी निरंतर गतिशील है। नवीन शोध ग्रंथों से कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो रही है। फलतः पुरानी-पुरानी भ्रांतियाँ दूर हो रही हैं और नवीन तथ्य इतिहास लेखकों के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं। फिर भी पुराने पुस्तकालयों में प्रस्तुत ग्रन्थों तथा हस्तलिपियों का यदि गम्भीरता से अध्ययन किया जाए तो वहाँ से हमें हिन्दी साहित्येतिहास लेखन की कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो सकती है।

◆◆◆

## हिन्दी साहित्य का इतिहास : काल विभाजन, सीमा-निर्धारण

**. हिन्दी साहित्य के काल विभाजन एवं नामकरण को स्पष्ट कीजिए।**

*अथवा*

**हिन्दी साहित्य के काल विभाजन एवं नामकरण की समस्या पर प्रकाश डालिए।**

**उत्तर–हिन्दी साहित्य का काल विभाजन एवं नामकरण**–साहित्य किसी भी भाषा का हो, जब उसका इतिहास लिखा जाता है तो सबसे बड़ी समस्या उसके काल विभाजन और नामकरण की होती है। हिन्दी साहित्य भी इस समस्या से अछूता नहीं है। काल विभाजन की प्रक्रिया के द्वारा प्रत्येक कालखण्ड की समय सीमा का निर्धारण किया जाता है। विभिन्न युगों में साहित्यिक प्रवृत्तियों की शुरुआत, उनका उतार-चढ़ाव उनकी समय सीमा का निर्धारण करती हैं। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि ककिसी काल विशेष में जो प्रवृत्तियाँ हैं वह तत्काल खत्म हो जाती है; अर्थात् उसमें तुरन्त कोई परिवर्तन आ जाता है। प्रत्येक कालखण्ड में प्रमुख प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे विलुप्त होती है और नई प्रवृत्तियाँ धीरे-धीरे अपने उत्कर्ष को प्राप्त करती हें इसलिए नामकरण कालखण्ड की प्रवृत्तियों को आधार बनाकर किया जाता रहा है। इसके अलावा साहित्य निर्धारण के अन्य अनेक घटक स्वीकार किए जाते रहे हैं।

किसी भी साहित्य का आधार उसमें निहित प्रवृतियाँ होती हैं, जो मूल विषयों और कथ्यों के अर्थ खोलती है। समयानुसार परिवर्तित होते ये विषय रचनाकारों को सार्थक सर्जना के लिए प्रोत्साहित करते हैं। जिस काल या युग में समाज का जैसा स्वरूप होता है, तत्कालीन साहित्य का उसी स्वरूप के साथ दिखलाई देता परस्पर समन्वय स्थापित है। उस कालक्रम में जिस प्रकार की कृतियों की रचना और अधिकता होती है, उसका नामकरण उन्हीं रचनाओं के आधार पर होता है। यह आवश्यक नहीं होता है कि प्रत्येक कालखण्ड में कोई एक ही प्रवृत्ति उस समय की साहित्यिक चेतना का प्रतिनिधित्व करे। जहाँ ऐसा होता है वहाँ नामकरण की समस्या स्वतः हल हो जाती है। लेकिन कई बार एक कालखण्ड में किसी विशेष विषय की प्रधानता न होकर विभिन्न विषयों की रचनाएँ उपलब्ध होती है। उस स्थिति में विषयाधारित कालखण्ड को निश्चित नाम प्रदान करना एक विशिष्ट समस्या का रूप लेती है। इस स्थिति में प्रयास यह किया जाता है कि उस कालखण्ड विशेष का नामकरण विशिष्ट विषयाधारित हो तथा अन्य विषयों को उपयुक्त तथा सुसंगत शीर्षको के अनुसार उपखण्डों में विखण्डित करना चाहिए। साहित्य के क्षेत्र में काल-विभाजन का यह अर्थ नहीं कि एक काल का सीमांकन समाप्त होते ही साहित्य की धारा दूसरी दिशा में प्रवाहित होने लगे। एक काल की विचारधारा दूसरे काल तक प्रवाहमान होती रहती है। काल विभाजन करते समय युगों का सीमांकन मूल प्रवृत्तियों के आरंभ और अवसान के अनुसार हो जहाँ साहित्य की मूल चेतना में बदलाव दिखाई दे और नए स्वर तथा चेतना का उदय हो, वहाँ पूर्व सीमा और जहाँ यह समाप्त होने लगे वह उत्तर समय स्वीकार किया जा सकता है। काल विभाजन तर्कसंगत और विवे

Scanned with ACE Scanner

पूर्ण बुद्धि से संचालित हो, जो निरन्तर विकासमान साहित्य की परंपरा को भलीभाँति समझाने में सहायक हो। काल विभाजन और विभाजित कालों का नामकरण साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं।

इनके आधार पर सामान्यतः काल विभाजन और उसके नामकरण इस प्रकार माने जाते हैं–

1. ऐतिहासिक काल क्रम के अनुसार : आदिकाल, मध्यकाल, संक्रान्तिकाल, आधुनिककाल आदि।
2. शासक और उसके शासन काल के अनुसार : ऐलिजाबेथ युग, विक्टोरिया युग, मराठाकाल आदि।
3. लोक नायक और उसके प्रभावकाल के अनुसार : चैतन्यकाल (बांग्ला), गांधी युग (गुजराती) आदि।
4. साहित्यिक नेता एवं उसकी प्रभावपरिधि के आधार पर : रवीन्द्र युग, भारतेन्दु युग आदि।
5. राष्ट्रीय, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक घटना या आंदोलन के आधार पर : भक्तिकाल, पुनर्जागरण काल, सुधार काल, युद्धोत्तर काल (प्रथम महायुद्ध के बाद का कालखण्ड) स्वातंत्र्योत्तर काल आदि।
6. साहित्यिक प्रवृत्ति के नामाधार पर : रोमानी युग, रीतिकाल, छायावादी युग आदि।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में निम्नलिखित आधार पर काल विभाजन किया गया है–

## *हिन्दी साहित्य का काल विभाजन*

काल विभाजन साहित्य के इतिहास की महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस समस्या पर हिन्दी साहित्य अनेक इतिहासकारों ने अपने-अपने मतानुसार विभिन्न आधारों पर काल विभाजन किया है। इनमें प्रमुख हैं–

**1. जार्ज ग्रियर्सन**–हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के प्रवर्तकों के रूप में फ्रेंच विद्वान् 'गार्सा-द-ताँसी' ने कवियों का जीवनवृत्त तो उदाहरण सहित प्रस्तुत किया और काल विभाजन को उपेक्षित किया। सन् 1888 में जार्ज ग्रियर्सन ने अपने ग्रन्थ **'द मार्डन वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑफ हिन्दुस्तान'** में लेखकों तथा कवियों का कालक्रमानुसार विभाजन करते हुए साहित्यिक विशेषताओं को प्रस्तुत किया है। इस ग्रन्थ का प्रत्येक अध्याय काल विशेष को दर्शाता है।

1. चारणकाल (700-1300 ई.)
2. पन्द्रहवीं सदी का धार्मिक पुनर्जागरण
3. जायसी की प्रेम कविता
4. ब्रज का कृष्ण सम्प्रदाय
5. मुगल दरबार
6. तुलसीदास
7. रीतिकाल
8. तुलसीदास के अन्य परवर्ती कवि
9. अट्ठारहवीं सदी
10. कंपनी के शासन में हिन्दुस्तान
11. महारानी विक्टोरिया के शासन में हिन्दुस्तान

**2. मिश्र बन्धुओं द्वारा प्रस्तुत काल विभाजन**–मिश्र बंधुओं द्वारा विरचित **'मिश्रबन्धु-विनोद'** चार वर्गों में विभाजित है जिसके प्रारंभिक तीन भाग सन् 1913 ई. में प्रकाशित हुए चतुर्थ भाग 1934 ई. में प्रकाशित हुआ। मिश्र बन्धुओं ने अपने ग्रन्थ को इतिहास की संज्ञा न प्रदान कर इसे एक आदर्श इतिहास ग्रन्थ सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया। इसे परिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए मिश्र बन्धुओं ने एक ओर तो इसमें लगभग पाँच हजार कवियों को स्थान प्रदान किया है और इसे निम्नलिखित कालखण्डों में वर्गीकृत किया है–

1. **आरंभिक काल**
   - (क) पूर्वारम्भिक काल (700-1343 वि.)
   - (ख) उत्तराम्भिक काल (1344-1444 वि.)
2. **माध्यमिक काल**
   - (क) पूर्व माध्यमिक काल (1445 से 1560 वि.)
   - (ख) प्रौढ़ माध्यमिक काल (1561 से 1680 वि.)
3. **अलंकृत काल**
   - (क) पूर्वालंकृत काल (1681 से 1790 वि.)
   - (ख) उत्तरालंकृत काल (1791–1889 वि.)
4. परिवर्तन काल (1890-1925 वि.)
5. वर्तमान काल (1926 वि. से अब तक)

Scanned with ACE Scanner

**3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का काल विभाजन**–हिन्दी साहित्येतिहास की परम्परा में सर्वोच्च स्थान आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा विरचित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' को प्राप्त है जो मूलतः नागरी प्रचारणी सभी द्वारा प्रकाशित **'हिन्दी शब्द सागर'** की भूमिका के रूप लिखा गया था जिसे आगे परिवर्धित एवं विस्तृत करके स्वतंत्र पुस्तक का रूप प्रदान कर दिया गया। इसके प्राक्कथन में ही आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए उद्घोषित किया है–**"जबकि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अन्त तक इन चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत-कुछ राजनैतिक, सामाजिक, साम्प्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है।"** सन् 1929 ई. में प्रकाशित आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा लिखित **'हिन्दी साहित्य का इतिहास'** में प्रस्तुत काल विभाजन सुनिश्चित स्पष्ट तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण को सहेजे है। काल विभाजन के अन्तर्गत हिन्दी साहित्य के एक हजार वर्षों के इतिहास को चार कालखण्डों में बाँट दिया जो किसी प्रकार की शंकाओं, उलझावों तथा कठिनता से युक्त है।

1. वीरगाथाकाल : वि.सं. 1050 से 1375 तक
2. भक्तिकाल : वि.सं. 1375 से 1700 तक
3. रीतिकाल : वि.सं. 1700 से 1900 तक
4. गद्य काल : वि.सं. 1900 से 1984 तक

**4. डॉ. रामकुमार वर्मा का काल विभाजन**–डॉ. रामकुमार वर्मा ने **'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास'** में साहित्य इतिहास को सात प्रकरणों में विभक्त करते हुए सामान्यतः रामचन्द्र शुक्ल के ही वर्गीकरण का अनुसरण किया है। इतना अवश्य है कि युगों व धाराओं के नामकरण में किञ्चित् परिवर्तन कर उन्हें सरल रूप दे दिया गया है। यथा, निर्गुण ज्ञानश्रयी शाखा निर्गुण प्रेममार्गी (सूफी) शाखा जैसे लम्बे-लम्बे नामों के स्थान पर **'सन्त काव्य', 'प्रेमकाव्य'** आदि नाम का प्रयोग किया गया जो अधिक सुविधाजनक है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने साहित्य का वर्गीकरण निम्नलिखित प्रकार से किया है–

1. सन्धि काल : वि.सं. 0693 से 1000
2. चारणकाल : वि.सं. 1000 से 1375
3. भक्तिकाल (सन्तकाव्य, प्रेमकाव्य, रामकाव्य, कृष्णकाव्य) : वि.सं. 1375 से 1700
4. रीतिकाल : वि.सं. 1700 से 1900
5. आधुनिककाल : वि.सं. 1900 से अब तक

**5. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का काल विभाजन**–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास लेखन के लगभग एक दशक बा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी इस क्षेत्र में आते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की **'हिन्दी साहित्य की भूमिका'** क्रम औ पद्धति की दृष्टि से इतिहास के रूप में प्रस्तुत नहीं है किन्तु उसमें प्रस्तुत विभिन्न स्वतंत्र लेखों में कुछ ऐसे तथ्यों और निष्क का प्रतिपादन किया गया है, जो हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए नई दृष्टि, नई सामग्री और नई व्याख्या प्रदान करते है परंपरागत दृष्टिकोण और सांस्कृतिक वैचारिकता को आधार स्वीकार कर इस ग्रन्थ में काल विभाजन इस प्रकार प्रस्तुत किया है

1. आदिकाल : 1000 से 1400
2. भक्तिकाल : 1400 से 1575
3. रीतिकाल : 1575 से 1875
4. आधुनिककाल : 1875 से अब तक

## *कालखण्डों के नामकरण की समस्या एवं विवेचन*

हिन्दी इतिहास लेखन परंपरा निरन्तर गतिमान रही है और लगभग सभी इतिहास लेखकों ने अपने ग्रन्थों को सुविधा विभिन्न कालखण्डों और उपखण्डों में विभाजित किया है। इस संदर्भ में अन्तिम प्रश्न युगों के नामकरण का है। आचार्य राम शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के इतिहास को निम्नलिखित चार कालखण्डों में विभाजित किया है–(i) वीरगाथाकाल, (ii) भक्ति (iii) रीतिकाल और, (iv) आधुनिककाल।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जार्ज ग्रियर्सन और मिश्र बंधुओं के इतिहास ग्रंथों से कुछ संकेत अवश्य लिए हैं। परंतु काल-विभा और नामकरण की अन्तिम तर्कपुष्ट व्याख्या उनकी अपनी है। इसमें से भक्तिकाल और रीतिकाल के नाम को लेकर विवाद

Scanned with ACE Scanner

'वीरगाथाकाल' नाम के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ की गई हैं जिनमें प्रमुख रूप से तर्क यह था कि जिन रचनाओं के आधार पर इस काल-क्रम का नाम 'वीरगाथाकाल' किया जाना है। उसमें से अधिकांश अप्राप्त हैं और कुछ परवर्ती काल की रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त जो साहित्य इस कालावधि में लिखा गया है। उसमें सामन्तीय और धार्मिक तत्त्वों का प्राधान्य होने पर भी कथ्य और माध्यम के रूपों की ऐसी विशेषता और अव्यवस्था है कि किसी एक प्रवृत्ति के आधार पर उसका सही नामकरण नहीं किया जा सकता। वहीं रीतिकाल के नामकरण में विरोध की प्रवृत्ति सीमित थी। यहाँ विवाद का विषय केवल युगीन साहित्य में रीतितत्त्व एवं शृंगार तत्त्व की प्रमुखता को लेकर है। नामकरण की समस्या से जुड़े निम्नांकित तथ्य उल्लेखनीय हैं–

**1. आदिकाल नामकरण**–जार्ज ग्रियर्सन और डॉ. रामकुमार वर्मा ने हिन्दी साहित्य के आरंभिक काल को चारणकाल कहते हैं। डॉ. गणपति चन्द्र गुप्त का मानना है कि **"यदि इन्हें चारणों को साहित्य में प्रभुत्वता देनी ही थी तो चारणकाल के स्थान पर चारण काव्य शीर्षक देते तो असंगतियाँ न उभरती।"** नवीन अनुसंधानों से उपलब्ध आदिकालीन साहित्य की सामग्री के आधार पर यह निश्चित है कि तत्कालीन साहित्य में चारण प्रवृत्ति अंश भाग है किन्तु उसकी सर्वप्रमुखता व एकाधिकार नहीं है जिसके आधार पर युग के साहित्य का नामकरण किया जा सके।

विवेच्य काल अनेक साहित्यिक प्रवृत्तियों के संक्रमण का युग है। वीरगाथाकाल का नामकरण करते समय शुक्ल अपभ्रंश की चार रचनाओं विजयपाल रासो, हम्मीर रासो, कीर्तिलता, कीर्ति पताका को हिन्दी साहित्य में समाविष्ट करते हैं। इनके अलावा जिन और अन्य रचनाओं के आधार पर शुक्लजी नामकरण करते हैं। उनमें से अधिकांश रचनाएँ अप्राप्त तथा सदिंग्ध हैं, जिससे साहित्य समाज में इस कालक्रम को लेकर अनेक प्रकार की आपत्तियाँ रही हैं। जबकि भारतीय भाषाओं के विकास क्रम तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से अपभ्रंश और हिन्दी दो पृथक् भाषाएँ सिद्ध हो चुकी हैं। इससे नामकरण के लिए दिए गए साक्ष्यों में से कई कृतियाँ कालक्रम के कारण बाहर हो गई। जिस धार्मिक साहित्य को आचार्य रामचन्द्र शुक्ल परिव्यक्त कर आगे बढ़ते हैं। वह साहित्य उच्चकोटि की साहित्यिक उदात्तता से परिपूर्ण है। जिसे अस्वीकृत कर देने से संपूर्ण आदिकालीन साहित्य आधारहीन-सा दिखाई देता है। सामान्यतः जो साहित्य आदिकाल के कवियों द्वारा लिखा गया है उसमें सामन्तीय धार्मिक तत्त्वों के साथ-साथ काव्य शैली के रूपों की ऐसी विधिता है कि किसी निश्चित और अन्तिम रूप से एक प्रवृति के आधार पर नामकरण नहीं हो सकता है। यहाँ पर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के मत को उपेक्षा नहीं हो सकती, जहाँ वह कहते हैं कि–**"शायद ही भारत के इतिहास में इतने अन्तर्विरोधों एवं विरोधों से भरा युग आया होगा।"**

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी द्वारा प्रस्तावित **'आदिकाल'** नाम जो भाषा और साहित्य की प्रारम्भिक अवस्थाओं का प्रतीक है, इसी नाम को इतिहास समीक्षकों ने स्वीकार किया। अतः हिन्दी साहित्य के इतिहास के प्रथम कालखण्ड के रूप को आदिकाल के नाम से अभिहित किया गया। वस्तुतः आदिकाल शब्द आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की परम्परावादीं सांस्कृतिक आस्था एवं लगाव को दर्शाता है। यह शब्द अन्य प्रस्तुत नामों के अपेक्षाकृत अधिक सर्जनात्मक है। इसमें किसी एक साहित्यिक प्रवृत्ति के प्रति पक्षपात न दर्शाकर सम्पूर्ण प्रवृत्तियों को समेटने और सहेजने की अद्‌भुत शक्ति है। भाषा की दृष्टि से आदिकाल परिनिष्ठित अपभ्रंश से आगे विकसित भाषा की सुखद सूचना को संप्रेषित करता है। आदिकाल से भावी हिन्दी भाषा के काव्यरूप अंकुरित हुए हैं।

**2. भक्तिकाल**–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा प्रस्तावित भक्तिकाल के नामकरण एवं सीमांकन में विद्वानों की लगभग आम सहमति है। डॉ. **गणपतिचन्द्र गुप्त** ने भक्तिकाल के नामकरण के सम्बन्ध में अपने विचार को इस प्रकार प्रस्तुत किया है–**"भक्तिकाल नामकरण एवं उसका अन्तर्विभाजन हिन्दी साहित्य की भिन्न-भिन्न परंपराओं के अध्ययन में साधक बनने की अपेक्षा बाधक अधिक सिद्ध हुआ है। यह नाम युगीन एक ही प्रवृत्ति को सूचित करता है जबकि इस दौरान अनेक धाराएँ, अनेक प्रवृत्तियाँ साथ-साथ प्रवहमान थीं। एक ही प्रवृत्ति को सर्वप्रमुख मान लेने से इतिहास की मात्र एकांगी, एकपक्षीय और अधूरी व्याख्या प्रस्तुत होती है जो अवैज्ञानिक लगती है।"** आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भक्तिपरक रचनाओं की श्रेष्ठता और बहुलता को ध्यान में रखते हुए इस कालखण्ड को भक्तिकाल कहा है। भक्ति-भाव ही इस पूरे कालखण्ड का प्रमुख कथ्य एवं भाव रहा है। तत्कालीन कालखण्ड में विरचित अधिकांश कृतियों के मूल भाव एवं कथ्य में भक्ति-भाव परिलक्षित होता है। इस कालखण्ड की कृतियों में निर्गुण भक्ति एवं सगुण भक्ति की दो धाराओं का विशिष्ट स्वरूप दिखलाई पड़ता है। सगुण भक्ति की दोनों शाखाओं रामभक्ति शाखा और कृष्णभक्ति शाखा के वर्गीकरण से सामान्यतः इतिहासवेत्ता सहमत है। निर्गुण भक्ति के ज्ञानमार्गी शाखा और प्रेममार्गी शाखा दीर्घ नाम के कारण थोड़ा संदेहास्पद हैं, लेकिन डॉ. रामकुमार वर्मा द्वारा प्रस्तावित सन्त काव्य तथा सूफी (प्रेम) काव्य जैसे नाम बेहतर विकल्प के रूप में स्वीकार किए जाएँगे।

Scanned with ACE Scanner

यह तो हिन्दी-भाषा रूपी शिशु के अपने पाँवों पर पूर्ण रूप से खड़े होने से पहली दशा–घुटनों के बल सरकने, किसी सहारे को पकड़कर चलने का प्रयास करने, उसके लड़खड़ाकर चलने की क्रियाओं का सम्मिलित रूप प्रस्तुत करता है। अतः ऐसी दशा में हमें उसके अपभ्रंश-साहित्य से प्रभावित कवियों व ग्रंथों को भी इसमें शामिल करना चाहिए। इस दृष्टि से हम इसमें नाथ, सिद्ध, बौद्ध, चारण-साहित्यों से लेकर विद्यापति व खुसरो की रचनाओं को भी समायोजित कर सकेंगे। अतः 'आदिकाल' को 'बीजवपन', 'संधि या चारण काल', 'वीरगाथा काल', 'वीरकाल' या 'सिद्ध-सामंत-काल' कहने की तुलना में 'आदिकाल' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

## परिवेश : ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक

**हिन्दी साहित्य के आदिकालीन परिवेश का समीक्षात्मक अध्ययन कीजिए।**

*अथवा*

**हिन्दी साहित्य के आदिकालीन ऐतिहासिक, सामाजि, सांस्कृतिक एवं साहित्यिक परिवेश पर प्रकाश डालिए।**

*अथवा*

**हिन्दी साहित्य की आदिकालीन परिस्थितियों का परिचय दीजिए।**

**उत्तर–हिन्दी साहित्य के 'आदिकाल' का परिवेश** का अभिप्राय होता है–वातावरण। साहित्यिक संदर्भ में वातावरण के अंतर्गत किसी काल विशेष की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन किया जाता है क्योंकि इनका काल विशेष के साहित्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। भले ही हिन्दी साहित्य के 'आदिकाल' के नामकरण एवं सीमा निर्धारण का प्रश्न विवादग्रस्त रहा हो, परन्तु आज अधिकांश विद्वान, आलोचक इस बात पर मतैक्य रखते हैं कि इस काल का नामकरण आदिकाल ही अधिक उपयुक्त है। प्रायः विभिन्न विद्वान इसकी समय सीमा प्रायः 750 ई. से 1400 ई. तक मानते हैं। आदिकाल के साहित्य की विभिन्न धाराओं, प्रवृत्तियों का जानने समझने हेतु तत्कालीन परिवेश का अध्ययन करना आवश्यक है। हम निम्नलिखित बिंदुओं के अंतर्गत आदिकालीन परिवेश/परिस्थितियों का अध्ययन कर सकते हैं–

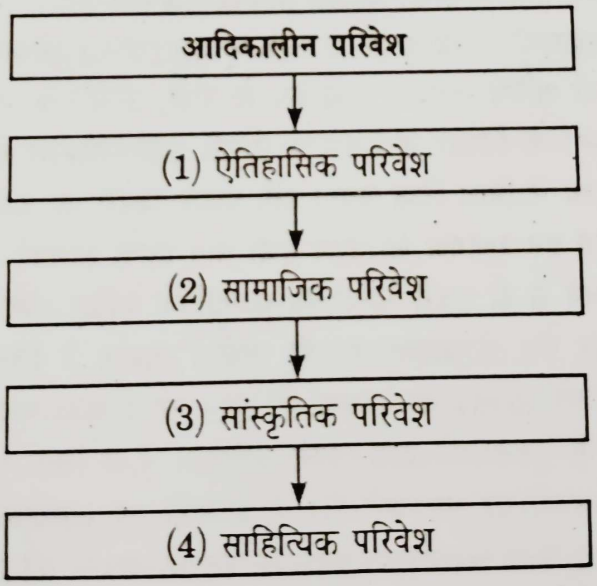


**1. ऐतिहासिक परिवेश**–आदिकाल का काल-निर्धारण सन् 700 ई. से 1400 ई. तक माना जाता है। इस तरह आदिकाल की कुलावधि लगभग 700 वर्ष बैठती है। इन सात सौ वर्षों में भारतीय राजनीति में अनेक उतार-चढ़ाव आए। यदि इस काल को राजनीतिक दृष्टि से अव्यवस्था, अराजकता, पारस्परिक क्लेश और पराभव का काल कहा जाए तो सम्भवतः कोई अतिशयोक्ति न होगी।

सन् 647 ई. में सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरांत उत्तरी-भारत की राजनीतिक व्यवस्था व सुदृढ़ता डगमगाने लगी थी। उसके शासन काल में भारत की संगठित सत्ता अब खण्ड-खण्ड होने लगी थी। राजपूतों, जाटों आदि के परस्पर वैर-भाव आदि के कारण होने वाले आपसी संघर्षों में ही उनकी शक्ति का ह्रास होने लगा था।

Scanned with ACE Scanner

दूसरी ओर अरब-क्षेत्र में नवोदित इस्लाम ने सुदूर पश्चिम व पूर्व दिशा में बढ़ना आरम्भ कर दिया था। तत्कालीन युग में आधुनिक अफगानिस्तान भारत का ही एक अंग था। अरब आक्रमणकारियों में प्रमुख मुहम्मद-बिन-कासिम ने 710-711 ई. में सिंध के रास्ते भारत में प्रवेश करने का प्रयास किया। यद्यपि विदेशी आक्रमणकारियों द्वारा भारत पर आक्रमण कोई नई बात न थी परन्तु मुहम्मद-बिन-कासिम के आक्रमण ने भारत की भावी राजनीतिक दशा को भी प्रभावित किया। सिंध प्रान्त का शासक दाहिर तथा उसके पुत्रों ने पग-पग पर मुहम्मद-बिन-कासिम का कड़ा विरोध किया। परन्तु वहाँ के जाटों ने दाहिर की सेना को सहयोग नहीं दिया, बल्कि इसके विपरीत उन्होंने अपने वैयक्तिक स्वार्थ के लिए देश-हित को नकार कर आक्रमणकारियों का साथ दिया। फलतः इस युद्ध में सिंध का शासक दाहिर पराजित हुआ। इस प्रकार भारत में इस्लाम के प्रादुर्भाव का प्रथम चरण पूरा हुआ। इस युद्ध में जनसाधारण द्वारा युद्ध के प्रति उपेक्षित रहने से यह पता चलता है कि तत्कालीन जनता शासक वर्ग के प्रति उदासीन थी और उसमें राजनीतिक चेतना का ह्रास हो चुका था।

मुहम्मद-बिन-कासिम के आक्रमण के बाद भी इतनी सहजता से भारत के प्रवेश-द्वार मुसलमान आक्रमणकारियों के लिए नहीं खुले। इसका मुख्य कारण यही था कि भारत के पश्चिमी-उत्तरी प्रदेशों में अभी भी शक्तिशाली शासक विद्यमान थे। धीरे-धीरे अरब और ईरानी शासक भोग-विलास में डूबते चले गए और अब इस्लाम का प्रचार-प्रसार करने का बीड़ा तुर्कों व मंगोलों ने उठाया। इन्होंने इस्लाम के प्रसार के लिए तलवार का ही प्रयोग किया। इस संदर्भ में **दिनकर** जी ने लिखा है–

**"मुसलमान आक्रमणकारी जहाँ-जहाँ गए, उन्होंने वहाँ की जनता के सामने तीन रास्ते रखे–या तो कुरान लो और इस्लाम को कबूल करो, या कर (टैक्स) दो और अधीनता स्वीकार करो अथवा दोनों में से कोई बात पसन्द न हो तो तुम्हारे गले पर गिरने के लिए तलवार प्रस्तुत है।"**

आदिकालीन साहित्य में तलवार की यही खनक सुनाई देती है, जिसके आधार पर आचार्य शुक्ल ने इसे 'वीरगाथा काल' नाम दे दिया था। दसवीं शताब्दी के अंतिम पड़ाव पर गजनी के शासक ने उत्तरी-पश्चिमी भारत पर आक्रमण करने आरम्भ किए। महमूद गजनी ने राजगद्दी पर बैठते ही भारत पर आक्रमणों की मूसलाधार वर्षा कर दी। उसके ताबड़तोड़ आक्रमणों से उत्तरी-पश्चिमी भारत का गढ़ समझा जाने वाला पंजाब अब तुर्कों के हाथों में चला गया। इसका परिणाम यह निकला कि अब सम्पूर्ण भारत विदेशी आक्रमणकारियों के लिए खुला था। तुर्कों को अब तत्कालीन युग के मध्य-देश पर सीधे आक्रमण करने के अवसर प्राप्त हो गए। तत्कालीन युग के मध्य-देश में पाँच जनपद संघटित थे–कुरु जनपद (खड़ी बोली प्रदेश), पंचाल जनपद (कन्नौजी प्रदेश), शूरसेन जनपद (ब्रजभाषा जनपद), कौशल जनपद (अवधी प्रदेश) तथा काशी जनपद (भोजपुरी जनपद)। सन् 1024 तक महमूद गजनी के आक्रमणों से भारत की राजनीतिक दशा अत्यंत शोचनीय हो चुकी थी।

नौवीं और दसवीं शताब्दी में जो क्षत्रिय राजवंश मुख्य रूप से उभरे, उनमें एक चंदेल राजवंश भी था। इसकी शक्ति का केन्द्र बुन्देलखण्ड था। परन्तु मुसलमानों के निरंतर आक्रमण व उनकी शक्ति-विकास से चन्देल राजवंश समाप्त हो गया और चन्देलों के राज्य को मुसलमानों के राज्य में मिला दिया गया। इसी प्रकार त्रिपुरी का शक्तिशाली 'कलचुरी' राजवंश भी इतिहास प्रसिद्ध है। दसवीं शताब्दी के आस-पास इस राजवंश का उदय हुआ था। इसके शासकों ने उत्तरी भारत के शासकों को कई युद्ध ों में पराजित किया। उनके परस्पर संघर्ष से ही उत्तरी भारत की राजनीतिक शक्ति क्षीण होती चली गई।

आदिकाल के आरम्भ में परमार वंश के शासन का भी उल्लेख मिलता है जिन्हें 'अग्निवंश' भी कहा जाता है। इसी परमार-राजवंश में मुंज व राजा भोज जैसे शक्तिशाली शासक भी हुए। परन्तु राजा भोज की मृत्यु के उपरान्त इस राजवंश का अंत हो गया और अन्ततः यह राज्य भी मुसलमानों द्वारा अपने अधिकार में ले लिया गया। ग्यारहवीं शताब्दी के अंतिम पड़ाव के आस-पास काशी व कन्नौज के जनपदों पर गहड़वाल-वंश के शासकों का आधिपत्य था। यह एक नया राजवंश था तथा चन्द्रदेव प्रथम इसका पहला शासक था। उसने कान्यकुब्ज प्रदेश के शासक गोपाल को हराकर कन्नौज पर अपना पूर्ण अधिकार जमा लिया। इस राजवंश ने भी लगभग दो सौ वर्षों तक शासन किया। इस शासन के पतन के बाद उत्तरी भारत एक बार फिर आपसी संघर्षों में नष्ट होने लगा।

बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों तथा मंगोलों ने पुनः भारत पर भारी आक्रमण करने आरम्भ कर दिए। इस समय देश अनेक महत्त्वपूर्ण राज्यों में बँटा हुआ था। बुन्देल खंड में चन्देलों का शासन था, दिल्ली तथा अजमेर में चौहानों का शासन था, कन्नौज में राठौर थे, बिहार में पाल तथा बंगाल में सेन राजवंश का शासन था। इनमें से भी चौहान व राठौर राजवंश सर्वाधिक शक्तिशाली थे। दिल्ली में पृथ्वीराज चौहान एवं कन्नौज में जयचन्द का शासन था। इनमें परस्पर द्वेष था। अतः जयचन्द ने अपने क्षुद्र स्वार्थ के लिए मोहम्मद गौरी का साथ देकर पृथ्वीराज चौहान को हराने का षड्यन्त्र रचा व इसमें सफल भी रहा। यहाँ से भारत की

Scanned with ACE Scanner

राजनीति में एक नया मोड़ आया। अब मंगोलों व मुसलमानों ने यहाँ अपने पाँव जमाने शुरू कर दिए। परन्तु इस बार उन्होंने पूर्वी प्रदेशों विशेषकर मगध के राज्य व उसके आस-पास के राज्यों को अपना निशाना बनाया। सन् 1197 ई. में मुहम्मद खिलजी ने भारत पर आक्रमण किया। उसने पूरे मगध प्रदेश को तहस-नहस कर दिया और बौद्ध भिक्षुओं को मार डाला। इसके पश्चात् तेरहवीं शताब्दी के आरम्भ से ही तुर्क अफगान भी भारत में पाँव पसारने लगे। अन्ततः मध्यदेश पर इन विदेशी आक्रमणकारियों का अधिकार हो गया। अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक, फिरोज शाह तुगलक आदि ने दिल्ली-सल्तनत पर अधिकार जमाने के अनेक प्रयास किए। इसी अवधि में मंगोलों ने भी भारत पर अनवरत आक्रमण किए। चंगेज खाँ तथा उसके वंशज तैमूर लंग (1369 ई.) ने भारत के हिन्दुओं व मुसलमानों का समान रूप से कत्लेआम किया।

उपर्युक्त विवेचन से यह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य का आदिकाल राजनीतिक दृष्टि से युद्ध, अशान्ति व संघर्ष का युग है। भारतीय नरेशों में परस्पर द्वेष की भावना ने उन्हें संगठित होने से रोका और उनकी इसी फूट का लाभ विदेशी आक्रमणकारियों ने उठाया। जिस देश में लगभग सात सौ सालों तक थोड़े-थोड़े अन्तराल के बाद आक्रमण या परस्पर संघर्ष होते रहे हों, उस देश का तत्कालीन साहित्य सुरक्षित रह पाना भी लगभग असम्भव है। मोटे रूप से भारत में विदेशी आक्रमणकारियों के सफल होने के दो कारण सामने आते हैं–**पहला कारण यह है कि यहाँ के शासक विलासी थे, वे अपने अहंकार से ग्रस्त थे और उनका यह अहंकार ही परस्पर संघर्ष-द्वेष का कारण बनता था। साधारण जनता के लिए एक शासक साँपनाथ था तो दूसरा नागनाथ। उसका समान रूप से शोषण किया जाना निश्चित था, अतः उसमें राजनीतिक-चेतना का अभाव था। इसी कारण इन शासकों को युद्ध के समय जनसाधारण से कोई विशेष सहयोग नहीं मिला। दूसरा मुख्य कारण इन शासकों के परस्पर संघर्ष ने उनकी शक्ति को क्षीण कर दिया था तथा वे परम्परागत शैली में ही युद्ध करते थे। युद्ध क्षेत्र में वे अपनी उदारता दिखाने का अवसर नहीं छोड़ना चाहते थे। उदाहरण के लिए पृथ्वीराज चौहान ने अनेक बार मोहम्मद गौरी को युद्ध-क्षेत्र से भागने दिया परन्तु जब मोहम्मद गौरी को अवसर मिला तो उसने बिना उदारता दिखाए पृथ्वीराज को बंदी बना लिया व अपने साथ ले जाकर उसे मार दिया।** अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत की आदिकालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ देश हित के अनुकूल नहीं थीं।

**2. सामाजिक परिवेश**–आदिकालीन युग में भारत का समाज चार वर्गों में बँटा हुआ था। मुसलमानों के आगमन से पहले शूद्रों को अस्पृश्य समझा जाता था। ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। परन्तु इतिहासकारों ने प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि दसवीं शताब्दी से पहले ही उत्तरी भारत के ब्राह्मणों ने अपने कार्यों को छोड़कर दूसरे व्यवसायों में रुचि लेना आरम्भ कर दिया था। इन उदाहरणों में ब्राह्मणों को सेनापति, महामंत्री व कृषि-क्षेत्र से जुड़ा दिखाया है। दसवीं से चौदहवीं शताब्दी में ही ब्राह्मणों ने अपने गोत्र व जाति को आधार बनाकर उनका अपना नाम के साथ प्रयोग करना आरम्भ कर दिया था जैसे–सारस्वत, कान्यकुब्ज, उत्कल, गौड़ आदि।

क्षत्रिय वर्ग को समाज में दूसरा स्थान प्राप्त था। परन्तु कहीं-कहीं उन्हें ब्राह्मण से अधिक महत्त्व दिया गया है। राजपूत इन्हीं क्षत्रियों की श्रेणी में आते हैं। वैश्य तीसरा मुख्य वर्ग था। वैश्यों का कार्य मुख्यतः व्यवसाय करना था। ये देश के भीतर व विदेशों से भी व्यापार करते थे। वैश्यों ने ब्राह्मणों के अनुरूप गौत्र पद्धति को अपनाया व उनमें अनेक जातियाँ बनती चली गईं। ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि ये वैश्य अपने उद्योग-धन्धे भी चलाते थे।

समाज में सबसे निम्न स्थान शूद्रों को प्राप्त था। उनका मुख्य कार्य तीनों सवर्णों की सेवा करना था। आवश्यकता पड़ने पर वे किसी छोटे-मोटे व्यवसाय को भी अपना सकते थे। परन्तु उन्हें अपने अधिकारों से वंचित रखा जाता था। इसके अतिरिक्त समाज में गुलाम भी पाए जाते थे। गुलामों को खरीदा-बेचा जाता था तथा कभी-कभी उन्हें उपहारस्वरूप भेंट भी कर दिया जाता था। समाज में वेश्याओं का भी स्थान था। ये वेश्याएँ नगरवधू कहलाती थीं। परन्तु अधिकांश वेश्याएँ राजदरबारों से जुड़ी रहती थीं।

अतः यहाँ स्पष्ट होता है कि आदिकाल के आरम्भ में भारत का समाज वर्णों-वर्गों में बँटा था। यहाँ पर अनेक रीति-रिवाजों व परम्पराओं का प्रचलन था। राजा व धनाढ्य लोग बहु-पत्नी प्रथा में विश्वास रखते थे। विधवा-विवाह का प्रचलन न था। समाज में नारी की दशा अधिक अच्छी न थी। मुसलमानों के आक्रमणों के बाद उनकी स्थिति बद से बदतर हो गई। अब बाल-विवाह, बाल-विधवा जैसी कुरीतियों ने भी जन्म लेना आरम्भ कर दिया था।

**3. सांस्कृतिक परिवेश**–भारत की संस्कृति अत्यंत प्राचीन है। परन्तु आदिकाल तक आते-आते उसमें उनके परिवर्तन आ चुके थे। अब वर्ण-व्यवस्था कर्मणा न रहकर जन्मना हो गई थी। शिक्षा-प्राप्ति के अवसर अत्यंत सीमित थे। फ लतः अधिकांश जनता अशिक्षित थी। यही कारण है कि तत्कालीन युग में अंध-विश्वासों, पाखण्डों, बाह्याचारों का बोलबाला था। दक्षिण-भारत के मंदिरों में तो देवताओं की पूजा, अर्चना करने वाली देवदासियाँ वस्तुतः वेश्याएँ थीं जिन पर राज्य के शासकों, उच्च अधिकारियों,

Scanned with ACE Scanner

मंदिर के महंतों आदि का अधिकार था। नारी अब अर्धांगिनी न रहकर केवल भोग्या रह गई थी। वह भोग-विलास का उपकरण थी। मुसलमान शासकों ने तो हिन्दू-नारियों पर अत्यधिक अत्याचार किए।

मुसलमानों के आगमन से पूर्व भारत में वास्तुकला, चित्रकला, संगीतकला आदि की अपनी अनेक शैलियाँ थीं। प्रायः हिन्दू शासकों व धनाढ्यों में मंदिर आदि का निर्माण करने की प्रबल भावना रहती थी परन्तु मुसलमान शासकों में मंदिरों को ध्वस्त करने व वहाँ मस्जिद बनाने की प्रबल इच्छा थी। यही कारण है कि इस युग में मंदिरों व मस्जिदों का समान रूप से निर्माण हुआ। वास्तुकला में भारतीय व ईरानी शैली का अद्‌भुत समन्वय हुआ व नए-नए भवनों का निर्माण हुआ। इसी प्रकार चित्रकला, संगीत कला आदि में भी भारतीय व ईरानी का सम्मिश्रण हुआ। मुसलमानों के आगमन के पश्चात् भारतीय रहन-सहन, खान-पान, वेश-भूषा आदि में भी अनेक परिवर्तन आए।

आदिकालीन भारतीय समाज में धार्मिक परिस्थितियाँ कुछ विशेष अच्छी न थीं। शंकराचार्य (798-820 ई.) के आगमन से पूर्व तो भारतीय समाज विभिन्न सम्प्रदायों एक मतों के जाल में उलझा हुआ था। महात्मा बुद्ध द्वारा स्थापित बौद्ध-धर्म अब अनेक शाखाओं, उपशाखाओं यथा–हीनयान, महायान आदि में बँट चुका था। इनमें अब बौद्ध धर्म के मूल तत्त्वों के स्थान पर पाखंड, बाह्याचार आदि का समावेश हो चुका था। फलतः समाज में जादू-टोनों, तन्त्र-मन्त्र आदि का प्रचलन बढ़ रहा था।

इसी प्रकार अन्य धर्मों में भी अनेक सम्प्रदायों का उदय हो चुका था। हिन्दू धर्म में वैष्णव, शैव, शाक्त आदि सम्प्रदायों का प्राधान्य था। ये सम्प्रदाय भी अनेक अलग-अलग मतों में बँटे हुए थे। जैसे शैवों में पाशुपत, कालामुख, कापालिक आदि मतों का प्रचलन था। जैन सम्प्रदाय में भी अब तन्त्र, मन्त्र, टोना आदि का प्रचलन बढ़ने लगा था। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतीय समाज में धर्म के मूल सार व उसकी मूल भावना के स्थान पर बाह्याचारों, पाखंडों, अंध-वि रूपों आदि को ही धर्म समझा जाने लगा था। यह स्थिति भारत में लगभग 12वीं शती तक विद्यमान रही।

जाति-पाँति के कठोर नियमों व अस्पृश्यता के बढ़ते प्रभाव के कारण शूद्रों को अब मंदिर-प्रवेश से भी रोका जाने लगा। उनके साथ पशुवत् व्यवहार किया जाने लगा। ब्राह्मणों द्वारा लिखे गए स्मृति-ग्रंथों, पुराणों आदि में शूद्रों को वेद पढ़ने व सुनने से भी मनाही कर देने के कारण वे हिन्दू होकर हिन्दू-धर्म से बाहर थे। यही कारण है कि जब भारत में मुसलमानों का शासन स्थापित हुआ व इस्लाम का प्रचार-प्रसार किया जाने लगा तो इन्हीं वेद-वंचित व मंदिर की ड्योढ़ी से भी दूर रहने वाले शूद्रों, अन्त्यजों ने इस्लाम् धर्म को हृदय से स्वीकार कर लिया क्योंकि इस धर्म में उन्हें अपने ईश्वर के प्रति भाव प्रकट करने के लिए समान अवसर प्राप्त हो जाते थे।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आदिकालीन भारतीय समाज में अनेक धर्मों, मतों का प्रचलन था। जिस राजा ने जिस धर्म को संरक्षण दे रखा था, उसके राज्य में उसी धर्म का प्रचलन था। यही कारण है कि तत्कालीन युग में पूर्वी भारत के पाल शासकों द्वारा वज्रयान को समर्थन देने से वहाँ यह सम्प्रदाय अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच चुका था। इसी प्रकार बंगाल में शैव व वैष्णव सम्प्रदाय का, गुजरात में जैन धर्म का अधिक प्रचलन था। तत्कालीन युग के मध्यदेश में अनेक सम्प्रदायों के विकृत रूप ही जनसामान्य में प्रचलित थे। दूसरी ओर, दक्षिण भारत में रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य आदि ने 11वीं से 14वीं शती तक भक्ति-आन्दोलन का जो प्रचार-प्रसार किया था, वह भी अब उत्तरी भारत तक पहुँचने लगा था।

**4. साहित्यिक परिवेश**–यद्यपि आदिकालीन युग युद्ध और क्लेश का युग है फिर भी इस युग में साहित्य का निर्माण सतत् रूप से जारी रहा। इन सात सौ वर्षों की अवधि में साहित्यिक रचनाओं को मुख्यतः तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है–संस्कृत साहित्य, प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य तथा हिन्दी साहित्य। मुसलमानों के आक्रमण से पूर्व तक संस्कृत ही राजदरबार की भाषा होती थी। राजा भोज का संस्कृत-प्रेम विश्वविख्यात है। अतः ऐसे दरबारी कवियों ने संस्कृत-भाषा को ही साहित्य-भाषा रूप में स्वीकार किया जबकि यह भाषा जनसामान्य से विमुख होती जा रही थी। आनंदवर्द्धन, अभिनवगुप्त, कुन्तक, क्षेमेन्द्र आदि इस काल के विख्यात संस्कृत- साहित्यकार थे।

इस युग की दूसरी साहित्यिक धारा–प्राकृत एवं अपभ्रंश की भाषा से युक्त थी। इस सम्बन्ध में ग्यारहवीं शती का उत्तरार्द्ध विशेष रूप से उल्लेखनीय है। जैन-साहित्य मुख्यतः परिनिष्ठित अपभ्रंश में ही रचित है। गुजरात में धार्मिक और राजकीय दोनों ही स्तरों पर अपभ्रंश-साहित्य की रचना को प्रोत्साहन दिया गया। उदाहरण के लिए **राजा कर्ण** के दरबार में अपभ्रंश कवियों को विशेष स्थान प्राप्त था। उन्हीं के शासन काल में **'प्राकृत पैंगलम्'** ग्रंथ की रचना हुई।

इस युग में हिन्दी भाषा में भी साहित्यिक ग्रंथों की रचना हुई। परन्तु इसे देशी भाषा कहना अधिक उपयुक्त है। सिद्धों, नाथों आदि ने देशी भाषा को ही अपनी अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। डिंगल, पिंगल, मैथिली आदि तत्कालीन युग की देशी

Scanned with ACE Scanner

**आदिकालीन सिद्ध साहित्य क्या है? इसकी विशेषताएं बताइए।**

**उत्तर–आदिकालीन सिद्ध साहित्य–** सिद्ध साहित्य की परम्परा पर विचार करने से पहले सिद्ध तथा सिद्ध-साहित्य से परिचित होना आवश्यक है। महात्मा बुद्ध ने जिस बौद्ध धर्म की स्थापना की थी, उसने उनके काल में अत्यधिक उन्नति की। परन्तु कालांतर में यह धर्म दो शाखाओं में बँट गया–महायान तथा हीनयान। उत्तरी भारत में धीरे-धीरे वैष्णव धर्म और भक्ति का प्रसार होता जा रहा था। शंकराचार्य, कुमारिल भट्ट जैसे महापुरुषों के प्रभाव से बौद्ध धर्म को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। इस हानि का एक दूसरा कारण यह भी था कि इस काल तक आते-आते महायान शाखा में भी अनेक विकृतियाँ उत्पन्न हो चुकी थीं। अन्ततः बौद्ध धर्म की महायान शाखा भी पुनः दो भागों में विभाजित हो गई–वज्रयान तथा सहजयान। जो बौद्ध उपासक जादू, टोना-टोटका आदि के द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहते थे वे **सिद्ध** कहलाए। **'श्री पर्वत'** इन सिद्धों का मुख्य केन्द्र था।

इन सिद्धों ने अपने विचारों, मतों आदि को जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए तत्कालीन युग में प्रचलित जनसामान्य भाषा का प्रयोग किया और उसी भाषा में अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों, विचारधाराओं आदि को लिपिबद्ध कराया। ये सिद्ध बाह्य-पूजा, जाति-पाँति, तीर्थाटन आदि का विरोध करते थे और उन्होंने उसके स्थान पर अनेक रूपकों द्वारा योग-साधना के तत्त्वों का निरूपण किया। उन्होंने अपने सम्प्रदाय के नियमों, सिद्धांतों का दिग्दर्शन कराने के लिए जिस साहित्य का निर्माण किया उसे ही **'सिद्ध साहित्य** कहा जाता है। चर्यापद, योगचर्या, डोम्बि गीतिका आदि सिद्ध-साहित्य के प्रमुख ग्रंथ हैं।

**सिद्ध साहित्य की प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ–**सिद्ध साहित्य की रचना करने वाले सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है जिनमें लुईपा, शबरीपा, सरहपा, कण्हपा, जालंधरपा, कपालपा आदि प्रमुख हैं। इन सिद्धों ने अपनी रचनाओं में योग-साधना के द्वारा अन्तकरण की शुद्धि आदि पर बल दिया और रूढ़ियों एवं बाह्याचारों का विरोध किया। परन्तु इसके साथ-साथ उन्होंने उपभोगवाद व तांत्रिक-साधना के रूप में मद्य-मैथुन का सेवन भी स्वीकार किया। उन्होंने निर्वाण के सुख को सहवास-सुख के समान बताया। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री (जिसे वे शक्ति-योगिनी या महा मुद्रा कहते थे) का योग या सेवन भी आवश्यक था। रहस्यवाद तो इनकी मूल प्रवृत्ति थी। सिद्ध-साहित्य की प्रवृत्तियों को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा जा सकता है–

Scanned with ACE Scanner

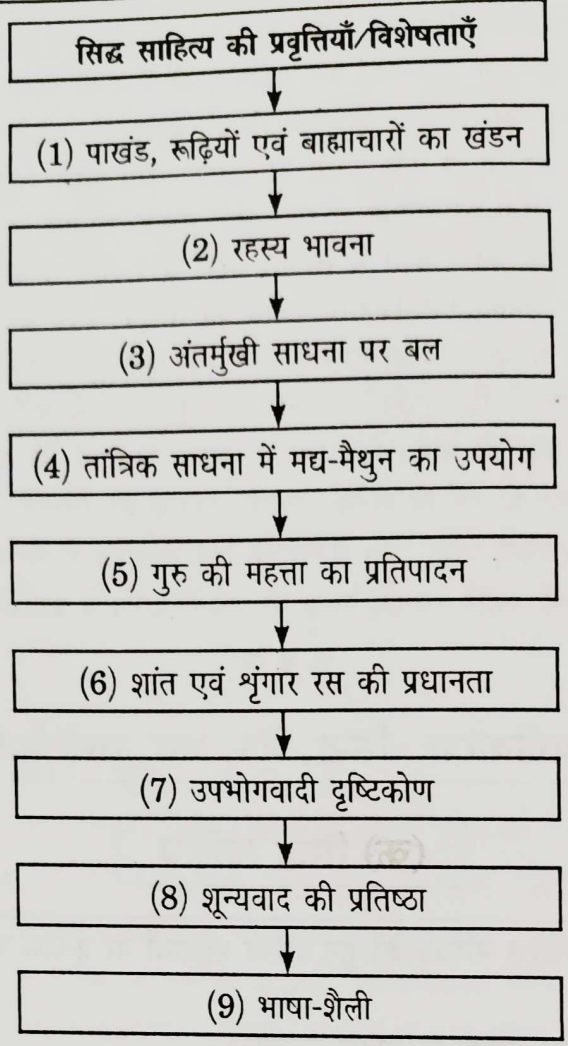


**1. पाखंड, रूढ़ियों एवं बाह्याचारों का खण्डन**–सिद्धों ने समाज में प्रचलित पाखंड, आडम्बर, रूढ़ि, बाह्याचार आदि का विरोध किया है। **डॉ. रामकुमार वर्मा** लिखते हैं, **"निराशावाद के भीतर से आशावाद का संदेश देना, संसार की क्षणिकता में उसके वैचित्र्य का इन्द्रधनुषी चित्र खींचना इन सिद्धों की कविता का गुण था और उनका आदर्श था–जीवन की भयानक वास्तविकता की अग्नि से निकलकर मनुष्य को 'महासुख' के शीतल सरोवर में अवगाहन करना।"** उदाहरण के लिए सरहपाद की निम्न पंक्तियाँ देखिए जिनमें वे पंडितों के शास्त्र-ज्ञान का विरोध करते हैं–

**पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ,**
**दे हहि रुद्ध बसंत न जाणइ।**
**अमणागमण ण तेन विखंडिअ,**
**तोवि णिलज्जइ भणइ हउँ पंडिअ।।**

इस प्रकार सिद्धों ने ब्रह्म, ईश्वर, जाति-पाँति, वेद, यज्ञ आदि का खण्डन किया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में ये सभी पाखण्ड हैं। ऐसी बँधी-बँधाई लीक पर चलकर किसी की मुक्ति नहीं हो सकती। अतः ऐसी अलीक को छोड़ देना चाहिए–

**छड्डहु रे अलीका बन्धा।**
**सो मुंचहु जो अच्छहु धन्धा।।**

**2. रहस्य-भावना**–सिद्धों ने आत्मा व परमात्मा के मिलन के लिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया है। इसका कारण यह है कि आध्यात्मिक व आत्मिक अनुभवों को सीधे, सरल, स्पष्ट शब्दों में तथा व्यावहारिक भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। रहस्य की अनुभूति अन्य अनुभवों से बिल्कुल भिन्न है, अतः इसे अभिव्यक्त करने के लिए सिद्धों ने उलटबाँसियों व प्रतीकों का अधिक प्रयोग किया है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि इन उलटबाँसियों व प्रतीकों का प्रयोग योग-साधना के अंगों के अनुरूप ही हुआ है। यथा–

**विशि अंधारी मूसा करअ अचारा।**
**अमिअ-भखअ करण अहारा।।**

Scanned with ACE Scanner

**मार रे जोइया! मूसा पवना।**
**जूण तुटइ अवणा-गवणा।।**
**भग बिन्दारअ मुसा खनअ गाती।**
**चंचल मूसा कलियाँ नाशक थाती।।**

इस प्रकार सिद्ध तांतिपा अपनी रचना में उलटबाँसियों का प्रयोग करते हुए अपनी रहस्यानुभूति को प्रकट करते हैं। यथा–

**बलद बिलाएल गविआ बाँझे। पिटा दुहिए एतिना साँझे।।**
**जो सो बुज्झी सो धनि कुधी। जो सो चोर सोइ साधी।।**

**3. अन्तर्मुखी साधना पर बल**–सिद्धों ने जहाँ पाखण्ड, मूर्ति-पूजा, जाति-पाँति, वेद, बाह्याचार आदि का विरोध किया है, वहीं वे मनुष्य को अन्तर्मुखी-साधना अपनाने का भी आह्वान करते हैं। अन्तर्मुखी-साधना के लिए शरीर की शुद्धि आवश्यक है। उनके अनुसार मनुष्य के शरीर में जो सहस्रार तथा कुण्डलिनी है, वही वास्तव में शिव और शक्ति है। उदाहरण के लिए विरुपा की वारुणी प्रेरित अन्तर्मुखी-साधना की पद्धति को देखिए–

**सहजे थिर करि वारुणी साध।**
**अजरामर होइ दिट काँध।।**
**दशमि दुआरत चिह्न देखइआ।**
**आइल गराहक अपणे बिहआ।।**
**चउशठि घड़िए देर पसारा।**
**पइठल गराहक नहि निसारा।।**

**4. तांत्रिक साधना में मद्य-मैथुन का उपभोग**–सिद्ध साहित्य में मद्य-मैथुन के उपभोग का समावेश किया गया है। तांत्रिक-साधना के अंतिम चरणों में तो 'महासुखवाद' ने 'सहवास-सुख' का ही रूप धारण कर लिया था। गुह्य-समाज की स्थापना के साथ-साथ इन सिद्धों ने मदिरा व मैथुन की अनिवार्यता को स्वीकार कर लिया। अब सिद्धि की प्राप्ति के लिए किसी योगिनी का साहचर्य आवश्यक हो गया। इन तांत्रिक सिद्धों की साधनाओं में डोमिनी, रजकी, महामुद्रा आदि के नाम ऊँच-नीच वर्ण की स्त्री के साथ व्यभिचार किया जाता था। उदाहरण के लिए सिद्ध कण्हपा अपनी कुण्डलिनी को जाग्रत करने के लिए डोमिनी का आह्वान करते हैं–

**नगर बाहिरे डोंवी तोहरि कुड़िया छइ।**
**छोई जाद सो बाम्ह नाड़िया।।**
**आलो डोंबि! तोए सम करिब म साँग। निधिण कण्ह कपाली जोइ लाग।।**
**एक्क सो पदमा चौषट्टि पाखुड़ी। तढ़ि चढ़ि नाचअ डोंवी बापुड़ी।।**
**हालो डोंबि! तो पुछनि सद्भावे। अइससि जासि डोंवी काहरि नावे।।**

**5. गुरु की महत्ता का प्रतिपादन**–सिद्धों ने गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार सहज सुख अथवा महासुख (निर्वाण) की प्राप्ति के लिए गुरु का होना अनिवार्य है। सद्गुरु के बिना साधक अपनी योग-साधना में सफल नहीं हो सकता। लगभग सभी सिद्धों ने अपनी-अपनी रचनाओं में गुरु की महत्ता को स्वीकार करके यह दर्शाया है कि गुरु ही साधक को सिद्धि प्राप्त कराने में सहायक सिद्ध हो सकता है। उदाहरण के लिए डोम्मिपा की निम्न पंक्तियों में गुरु की महत्ता का वर्णन हुआ है–

**गंगा जउना माझेर बहर नाइ।**
**तांहि बुड़िली मातंगि पोइआली ले पार करई।।**
**बाहतु डोम्बी बाह लो डोम्बी वाटत भइलउछारा।**
**सदगुरु पाऊ पए जाइब पुणु जिणउरा।।**

**6. शांत एवं शृंगार-रस का प्राधान्य**–चूँकि सिद्ध मूल रूप से साधक थे, अतः उनकी रचनाओं में मुख्य रूप से शांत रस का परिपाक हुआ है। वे अपनी रचनाओं में ऊँच-नीच के भेदभाव, ब्रह्मचारी, वाक्संयम, आन्तरिक शुद्धि आदि पर बल देते हैं। अतः उनकी रचनाओं में ऐसे स्थलों पर शांत-रस का निर्वाह हुआ है। यथा–वे कहते हैं गंगा, यमुना, प्रयाग आदि में स्नान करने से शरीर में पवित्रता नहीं आती, मन को पवित्र करने से ही तन पवित्र होता है–

**एत्थु में सुरसरि जमुणा एत्थु ले गंगा साअक।**
**एत्थु पयाग वणारसि, एत्थु से चन्द्र दिवाअक।।**

Scanned with ACE Scanner

परन्तु जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है कि सिद्धों ने तांत्रिक-साधना के अन्तर्गत नारी को शक्ति, महामुद्रा या डाकिनी कहकर उसके उपभोग को भी स्वीकारा है, अतः उनके काव्य में अनेक स्थानों पर दाम्पत्य-युग्मों की क्रीड़ा, उनके कार्य-व्यापार आदि का भी चित्रण हुआ है। उन्होंने प्रतीकों के द्वारा अपनी शृंगार-भावना को निरूपित किया है। यथा–

**जिमिउ लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिमिधरणी लइ चित्त।**
**समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु हो सब चित्त।।**

**7. उपभोगवादी दृष्टिकोण**–सिद्धों ने अपने साहित्य में उपभोगवादी दृष्टिकोण का भी परिचय दिया है। उन्होंने बौद्ध धर्म के दुखःदायी एवं कष्ट कारक साधनों के स्थान पर सुख और भोग से युक्त जीवन को अपना ध्येय बताया है। उन्होंने न तो भोगों को महत्त्वहीन बताया है और न ही स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन करने का संदेश दिया है। सिद्ध कण्हपा तो स्पष्ट कहते हैं–"**जब तक अपनी गृहिणी का उपभोग न करेगा, तब तक पंचवर्ण की स्त्रियों के साथ विहार क्या होगा?**"

**8. शून्यवाद की प्रतिष्ठा**–सिद्धों ने शैव और शाक्त तंत्र से प्रभावित होकर शून्यवाद की महत्ता को स्वीकारा तथा उसे अपने साहित्य में स्थान दिया है। उन्होंने शून्य को 'प्रज्ञा' के रूप में स्वीकार किया है। उनके मतानुसार शून्य चार प्रकार के हैं–शून्य, अतिशून्य, सर्वशून्य तथा महाशून्य। साधक अपनी कुण्डलिनी को जाग्रत कर इसी महाशून्य को प्राप्त करने का प्रयास करता है। सिद्ध कवि तिलोपा इसी महाशून्य की ओर संकेत करते हुए लिखते हैं–

**सहंज महातरु तिलोए, ख-सम स्वभाव रे बाणत का कोए,**
**जिमि जल पाणिड टालिका भेड़ न जाऊ, तिन गण रअनारें समरसे गगन समाऊ।**

**9. भाषा एवं शैली**–सिद्धों ने अपनी रचनाओं में मुख्यतः अवहट्ठ भाषा का प्रयोग किया है जिसे डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'संध्या भाषा' भी कहा है। आचार्य शुक्ल ने सम्पूर्ण सिद्ध-साहित्य को 'अपभ्रंश-काव्य' की श्रेणी में सम्मिलित किया है। विभिन्न भाषाओं के जिन विद्वानों अथवा साहित्येतिहासकारों ने सिद्धों की प्रमुख रचनाओं को अपनी-अपनी भाषा की निधियाँ बनाने का प्रयास किया है उनमें बंगाली, उड़िया, आसामी आदि भाषाओं के विद्वान् प्रमुख हैं। परन्तु सच यह है कि सिद्ध-साहित्य की जिस भाषा में रचना हुई है, उसमें सक्रांतिकालीन आधुनिक आर्यभाषा के स्वरूप निहित हैं। इसी कारण इसमें सभी आधुनिक आर्यभाषाओं के प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन होते हैं। परन्तु उनकी रचनाएँ अवहट्ठ भाषा में ही रचित माननी चाहिएं।

सिद्धों ने अपनी अवहट्ठ भाषा में तत्कालीन युग में प्रचलित लोक भाषा के शब्दों के साथ-साथ अनेक पारिभाषिक एवं सांकेतिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। इसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों में नाद, पद्म, निर्वाण, सहज, नाड़ी आदि उल्लेखनीय हैं तो सांकेतिक शब्दावली में गंगा, यमुना, रवि, ससि आदि प्रमुख हैं।

सिद्ध-साहित्य में मुख्य रूप से गीति शैली का प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त उनमें उपदेशात्मक, व्यंग्यात्मक आदि शैलियों का भी प्रयोग हुआ है। उनके काव्य में दोहा, चौपाई, सोरठा, अरिल्ल, रोला आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। अतः उनके साहित्य में प्रयुक्त छन्दों में विविधता देखने को मिलती है। परन्तु यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि उन्हें काव्यशास्त्र के छन्द-विधानों का अक्षरशः पालन नहीं किया है। अतः उनके मात्रिक छन्दों में सही मात्राओं का प्रयोग तथा वर्णिक छन्दों में उचित वर्णों का प्रयोग नहीं हुआ है।

सिद्ध-साहित्य की भाषा प्रतीकात्मक है। उसमें गूढ़ भावों को प्रकट करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग किया गया है। सिद्धों ने अपनी भाषा को अलंकारों से सुसज्जित करने का प्रयास तो नहीं किया है, फिर भी उनकी काव्य भाषा अन्त्यानुप्रास से युक्त है। कहीं-कहीं उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग भी हुआ है।

◆◆◆

## जैन साहित्य

**आदिकालीन जैन साहित्य का संक्षिप्त परिचय देते हुए इसकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।**

*अथवा*

**आदिकालीन जैन साहित्य क्या है? इसकी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।**

**उत्तर–आदिकालीन जैन साहित्य**–जिस प्रकार आदिकालीन भारत के पूर्वी क्षेत्रों में सिद्धों ने अपने सम्प्रदाय के नियमों, सिद्धान्तों आदि के प्रचार-प्रसार के लिए हिन्दी कविता को अपना साधन बनाया था, ठीक उसी प्रकार तत्कालीन भारत के पश्चिमी

Scanned with ACE Scanner

क्षेत्रों में जैन कवियों, आचार्यों आदि ने अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए काव्य को आधार बनाया। जैन कवियों, आचार्यों द्वारा अपने धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु जिस साहित्य का निर्माण किया, उसे हम **जैन साहित्य** कहते हैं। चूँकि इस साहित्य में अपभ्रंश भाषा का प्रयोग हुआ है, अतः इसे **अपभ्रंश-साहित्य** भी कहा जाता है। इन रचनाओं में धर्म व साहित्य का सुन्दर समन्वय हुआ है।

**जैन-साहित्य की परम्परा का उद्‌भव व विकास**–जैन-साहित्य की परम्परा सातवीं शताब्दी से आरम्भ होती है जोकि हमें सोलहवीं शताब्दी तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होती दिखाई देती है। **स्वयंभू** को जैन-साहित्य का प्रथम कवि माना जाता है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने इस पर अपनी असहमति जताई है। यदि विषय के आधार पर जैन-साहित्य का विश्लेषण किया जाए तो हम उसे मुख्यतः निम्नलिखित वर्गों में बाँट सकते हैं–

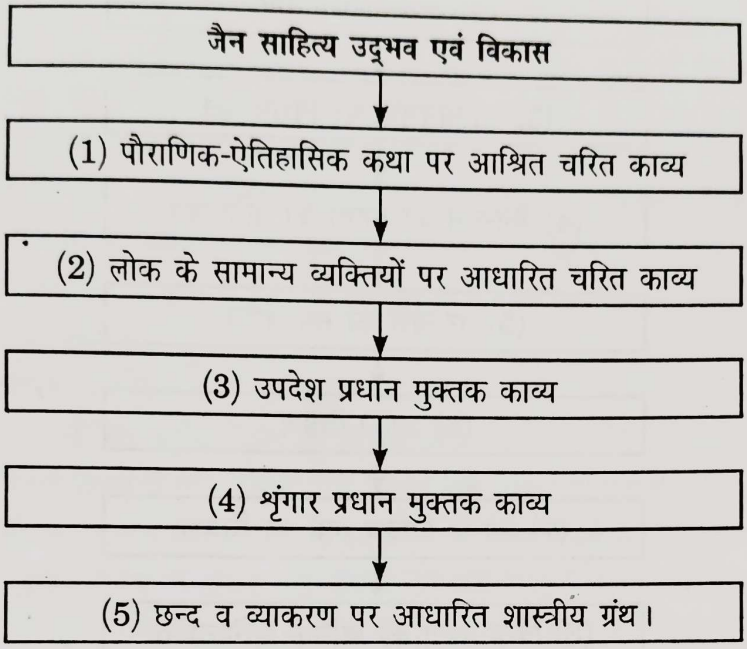


**1. पौराणिक-ऐतिहासिक कथा पर आश्रित चरित काव्य**–जैन-साहित्य में अनेक कवियों ने पौराणिक-ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित चरित-काव्य की रचना की है। ऐसे ग्रंथों में **स्वयंभू** कृत **पउमचरिउ, हेमचन्द्र** कृत **'कुमार पाल चरित', सोमप्रभाचार्य** कृत **'कुमारपाल प्रतिबोध',** पुष्पदंत कृत **'महापुराण'** आदि उल्लेखनीय हैं।

**2. लोक के सामान्य व्यक्तियों पर आधारित चरित काव्य**–अनेक जैन कवियों ने जैन-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए तथा उसकी महत्ता को दर्शाने के लिए अनेक लौकिक पात्रों को आधार बनाकर काव्य रचनाएँ की हैं। इन रचनाओं में कवि **आसगु** कृत **'चन्दन बालारास'**, कवि **धनपाल** कृत **'भविसयत कहा', पुष्पदंत** कृत **'जसहर चरिउ', जिनधर्म सूरि** कृत **'स्थूलिभद्र रास'** आदि प्रमुख हैं।

**3. उपदेश प्रधान मुक्तक काव्य**–अनेक जैन कवियों ने जैन-धर्म के नियमों, सिद्धान्तों आदि के अनुरूप जनसामान्य को अहिंसा, त्याग, संयम, साधना आदि का उपदेश दिया है। परन्तु उन्होंने इन उपदेशों को मुक्तक शैली में दोहा छन्द के द्वारा ही प्रस्तुत किया है। जैन-साहित्य के उपदेश-प्रधान मुक्तक काव्य में **देवसन** कृत **'श्रावकाचार', रामसिंह** कृत **'पाहुड़ दोहा', विजयसेन सूरि** कृत **'रेवंतगिरि रास'** आदि उल्लेखनीय हैं।

**4. शृंगार प्रधान मुक्तक काव्य**–यद्यपि अधिकांश जैन कवियों ने अपनी-अपनी रचनाओं में थोड़ा-बहुत शृंगार-वर्णन अवश्य किया है, परन्तु **अब्दुल रहमान** कृत **'संदेश रासक'** शृंगार-प्रधान मुक्तक काव्य में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

**5. छन्द व व्याकरण पर आधारित शास्त्रीय ग्रंथ**–जैन-साहित्य में छन्दों का शास्त्रीय विवेचन करने वाले ग्रंथ की भी रचना हुई है। **स्वयंभू** कृत **'स्वयंभू छंद', हेमचन्द्र** कृत **'छंदोऽनुशासन', 'हेमचन्द्र शब्दानुशासन'** आदि ग्रंथों को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है।

**जैन साहित्य की प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ**–जैन-साहित्य में अनेक विषयों को आधार बनाकर ग्रंथों की रचना हुई है। जैन-साहित्य के प्रमुख कवियों में **स्वयंभू** (पउम चरिउ रिट्ठणेमि चरिउ, स्वयंभू छंद, पंचमि चरिउ), **पुष्पदन्त** (महापुराण, जयकुमार चरिउ, जसहर चरिउ), **धनपाल** (भविसयत कहा), **जोइंदु** (परमात्म प्रकाश, योगसार), **मेरुतुंग** (प्रबंध चिंतामणि), **अब्दुल रहमान** (संदेश रासक), **देवसेन** (श्रावका चार), **शालिभद्र सूरि** (भारतेश्वर बाहुबलि रास), **जिन धर्म सूरि** (स्थूलिभद्र रास), **आसगु** (चन्दन बाला रास), **विजयसेन सूरि** (रेवंतगिरि रास), **सुमति गणि** (नेमिनाथ रास), **रामसिंह** (पाहुड़ दोहा), **सोमप्रभ सूरि** (कुमारपाल प्रतिबोध), **हेमचन्द्र** (हेमचन्द्र शब्दानुशासन, छंदोऽनुशासन', कुमारपाल चरित), **जिनदत्त सूरि** (चर्चरी) आदि का नाम लिया जा सकता है जिन्होंने जैन-धर्म के प्रचार-प्रसार में व जैन-साहित्य के भण्डार को समृद्ध करने में अपना विशेष योगदान दिया है।

Scanned with ACE Scanner

जैन साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

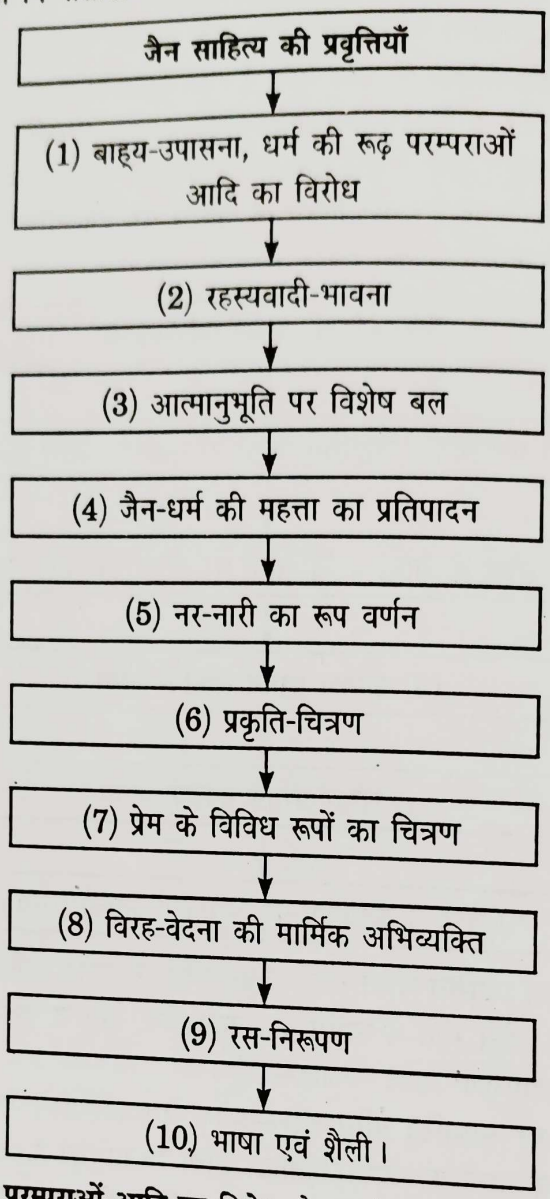


**1. बाह्य-उपासना, धर्म की रूढ़ परम्पराओं आदि का विरोध**–जैन-साहित्य में हिन्दू समाज में प्रचलित बाह्य-उपासना, मंदिर, तीर्थ-यात्रा, मूर्ति-पूजा, जाति-पाँति आदि का विरोध किया गया है। वे मनुष्य के लिए केवल चारित्रिक गुणों व मन की शुद्धता को ही अनिवार्य मानते हैं। जैन-साहित्य में कुछ रहस्यवादी कवियों ने भले ही गृहस्थ-जीवन की इसलिए निंदा की है कि वह साधक के मार्ग में बाधक बनता है परन्तु उन्होंने कहीं भी धर्म का पालन करते हुए गृहस्थ-आश्रम को त्याज्य नहीं बताया है। वे धन, देह, सांसारिक बंधनों आदि को तुच्छ व क्षणिक बताते हैं और इसकी नश्वरता का वर्णन कर इनसे दूर रहने का मनुष्य से आग्रह करते हैं–

**देउल देवु वि सत्थु गुरु है तित्थु वि वेउविकब्बु।**
**बच्छु जु दीसइ कुसुनियउ इंधणु होसइ सब्बु।।**

**2. रहस्यवादी भावना**–यद्यपि अधिकांश जैन-काव्य चरित, रास-शैली में रचित हैं, फिर भी अनेक जैन-कवियों जैसे योगिन्द्र, मुनिराम सिंह, सोम प्रभा सूरि आदि ने अपनी रचनाओं में रहस्यवादी भावना को भी प्रकट किया है। इन्होंने अपनी रचनाओं में मनुष्य के शरीर को मंदिर कहा है तथा तीर्थ-स्थल की यात्रा करने के स्थान पर अपने ही शरीर रूपी मंदिर में बैठे ईश्वर के दर्शन के लिए प्रोत्साहित किया है। इन कवियों ने शरीर में ही परमात्मा का वास बताया है और उस ईश्वर को परम समाधि की अवस्था में ही प्राप्त करने का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार लकड़ी में अग्नि छिपी रहती है, पुष्प में पराग मधु छिपा रहता है उसी प्रकार हमारे शरीर में ही परमात्मा का निवास है। यथा–

**जिम वइसाणर कट्ठ महिं, कुसुमइ परिमलु होइ।**
**तिह तेह मइ वसइ वि, आणदा बिरला बुझइ कोइ।।**

Scanned with ACE Scanner

**3. आत्मानुभूति पर विशेष बल**–जैन कवियों ने आत्मानुभूति तथा आत्मानुभव को परम लक्ष्य बताया है। वे आत्म-अनुभव के लिए शुभ-अशुभ कर्मों का क्षय करने की आवश्यकता पर बल देते हैं। उनका मत है कि आत्मा तथा परमात्मा दोनों एक ही हैं। आत्मा के ज्ञान से ही परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। अधिकांश जैन कवियों ने भोग के स्थान पर त्याग, शास्त्र-ज्ञान के स्थान पर आत्मज्ञान व कर्मकाण्ड के स्थान पर आत्म-अनुभूति को अधिक महत्त्वपूर्ण बताया है। इसीलिए वे कहते हैं कि केवल पुस्तकीय-ज्ञान से मुक्ति नहीं मिल सकती। उन्होंने शुद्ध आत्मा को ही सच्चा तीर्थ व उसके ज्ञान को ही सच्चा ज्ञान माना है। यथा–

**अण्णु जि तित्थु म जाहि जिप अण्णु जि गुरुअ म सेवि।**
**अण्णु जि देउ म चिंति तुंहु, अप्पा विमल मुएवि।।**

**4. जैन-धर्म की महत्ता का प्रतिपादन**–जैन काव्य में मुख्यतः जैन धर्म के नियमों, सिद्धान्तों आदि का महत्त्व बताया गया है। 'रास काव्य' यथा–'चन्दन बाला रास', 'स्थूलिभद्र रास', 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' आदि में तो जैन-धर्म के महत्त्व को सिद्ध करने के लिए अन्य धर्मों के पौराणिक व ऐतिहासिक पात्रों को जैन-धर्म का अनुयायी बनने के बाद ही शांति व मोक्ष का अधिकारी दिखाया है। जैसे **'भरतेश्वर बाहुबलि रास'** में दोनों वीर योद्धा भरतेश्वर और बाहुबली हिंसा को त्यागकर संसार से विरक्त हो जाते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार 'चन्दन बाला रास' में नायिका चन्दनबाला भी महावीर से दीक्षा लेने के बाद मोक्ष को प्राप्त करती है। 'स्थूलिभद्र रास' में वेश्या की संगत में रहने वाला पात्र स्थूलिभद्र भी जैन धर्म की दीक्षा लेता है तथा अन्त में मोक्ष प्राप्त करता है। अतः कहा जा सकता है कि जैन-साहित्य में भगवान महावीर के सिद्धान्तों, अहिंसा, करुणा, त्याग, दया आदि को अपनाने पर बल दिया गया है।

**5. नर-नारी का रूप वर्णन**–जैन-साहित्य के अधिकांश कवियों ने अपने पात्रों के माध्यम से नर-नारी के रूपों का विस्तृत चित्रण किया है। विशेषकर, नारी के रूप-वर्णन में उन्होंने अधिक रुचि ली है। उन्होंने विशेष परिस्थितियों, भावों आदि को ध्यान में रखकर ही नारी-रूप का चित्रण किया है और इसके लिए उन्होंने प्राकृतिक उपमानों का भी प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए **'पउम सिरि चरिउ'** में **पद्मश्री** के 'चन्दन बाला रास' में **चन्दायन** के रूप-सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन किया गया है। इसी प्रकार जैन-साहित्य में पुरुष-रस का सुन्दर वर्णन मिलता है। **'भरतेश्वर बाहुबलि रास'** में भरत एवं बाहुबलि के, **'स्थूलिभद्र रास'** में मुनि स्थूलिभद्र के, **'नेमिनाथ रास'** में मुनि नेमिनाथ आदि के रूपों का वर्णन हुआ है। उनके पुरुष-रूप वर्णन में मुख्यतः वीरता, संयम एवं शौर्य को ही आधार बनाया गया है। फिर भी कहीं-कहीं भद्दे एवं कुरूप पुरुषों के रूपों का वर्णन हुआ है। उदाहरण के लिए **'जसहर चरिउ'** में उस कुबड़े के रूप-वर्णन की निम्न पंक्तियाँ देखिए, जिसे जसहर की रानी प्रेम करती है–

**वव दड्ढ संकास तुण जो दीहं दंत दंतुर वयाणु।**
**कद्दम बुब्बुअ संणिह अइ अड्ड वियड्ड द्वइ वियमु।**
**बिरू फुट्टपाय कयणथ विरमु।।**

**6. प्रकृति-चित्रण**–प्रकृति ने आरम्भ से ही भारतीय कवियों को अपनी ओर आकर्षित किया है। जैन कवि भी अपने काव्य में प्रकृति-चित्रण के लोभ का सँवरण करने से रोक न सके। उनके काव्य में प्रकृति के विविध रूपों का वर्णन हुआ है। परन्तु यह अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि जैन कवियों ने प्रकृति के आलम्बन रूप का सबसे कम तथा पृष्ठभूमि के रूप में सबसे अधिक **प्रकृति-वर्णन** किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रकृति का उद्दीपन रूप, मानवीकरण रूप, रहस्यवादी रूप, उपदेशिका रूप आदि का भी चित्रण किया है। उदाहरण के लिए निम्न पंक्तियों को देखिए जिसमें प्रकृति का पृष्ठभूमि के रूप में वर्णन किया गया है ताकि प्रसंग के भाव के अनुकूल वातावरण की सृष्टि की जा सके–

**डोला तोरण वारे पईहरे-पइट्ठु वसंतु वसंत सिरी-हरे।**
**सइरूइ-वासहरेहि ख-गेउरन-आवसिउ महुअरि अन्तेपुरू।**
**कोयल का मिणीउ उज्जाणेहिं सुय सामंत लयाहर थाणेहि।**

इसी प्रकार प्रकृति के मानवीकरण रूप का उदाहरण देखिए जिसमें कवि ने नर्मदा नदी को अभिसारिका के रूप में चित्रित किया है–

**धव धवंति जे जल पब्भारा तेजि नाइं पोउर झंकारा।**
**पुलिणइं जाहिं बेवि सच्छायइं ताइं जे उडढणांइ ठां जायइं।।**

**7. प्रेम के विविध रूपों का चित्रण**–जैन-साहित्य में कवियों ने प्रायः प्रेम-तत्त्व को अपने काव्य में स्थान दिया है। परन्तु उनका समग्र अध्ययन करने पर पता चलता है कि कवियों ने प्रेम के विविध रूपों को अपनाया है। वे कवि किसी मर्यादा की

Scanned with ACE Scanner

सीमा में नहीं बँधे हैं। उनके काव्य में विवाह के लिए प्रेम को भी स्वीकार किया गया है तो विवाह के बाद असामाजिक प्रेम को भी स्वीकार किया है। उदाहरण के लिए **'चन्दनबाला रास'** में राजा शतनीक का सेनापति चन्दन बाला के साथ एक पक्षीय प्रेम करता है जिसमें वासना की मात्रा अधिक है। **'करकंड चरिउ'** में नायक पहले तो अपनी पत्नी मदनावती से अत्यधिक प्रेम करता है परन्तु शीघ्र ही वह विवाहोत्तर प्रेम सम्बंध बनाना चाहता है तथा अन्ततः रतिवेगा से विवाह कर लेता है। 'जसहर-चरिउ' में रानी अमृतमयी अपने पति से विमुख होकर एक कुबड़े से प्रेम करती है जिसे हम असामाजिक प्रेम भी कह सकते हैं। 'स्थूलिभद्र रास' में स्थूलिभद्र को एक वेश्या के साथ प्रेम में लीन दिखाया गया है। अतः कहा जा सकता है कि जैन-साहित्य में प्रेम के विविध रूपों का भी चित्रण हुआ है।

**8. विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति**–जैन-साहित्य के चरित काव्यों तथा कतिपय खंड-काव्यों जैसे **'संदेश रासक'** आदि में विरह-वेदना की मार्मिक अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु अधिकांश कवियों ने नारी की ही विरह-वेदना का अधिक चित्रण किया है। पुरुषों या नायकों की विरह-वेदना के वर्णन करने में उन्होंने कम रुचि दिखाई है। जैन कवियों ने विरह-वेदना के वर्णन में सजीवता, स्वाभाविकता और छंदगति तीनों का अद्भुत सामंजस्य किया है। जिसके परिणामस्वरूप उनके विरह-वर्णन में चित्रात्मकता का गुण भी स्वतः समावेश कर गया है। 'संदेश रासक' तो मानो पूरा ही विरह-वेदना पर आधारित खंडकाव्य है जिसमें नायिका अपने पति के नगर में जाने वाले अनजान पथिक के समक्ष अपनी विरह-वेदना का वर्णन करते हुए पति के पास संदेश भेजती है। पर्याप्त विचारों, भावों तथा दशाओं को अभिव्यक्त करने के बाद उसे लगता है कि अभी भी उसके कुछ भाव, मनोदशा आदि का वर्णन करना रह गया है। अतः वह चलने के लिए तैयार पथिक को पुनः रोककर अपनी विरह-वेदना का वर्णन करती है। उसके संदेश में प्रेम की सघनता, विरह की व्यथा और आत्मसमर्पण का विलक्षण समन्वय हुआ है। वह अपने पति के पास संदेश भेजते हुए कहती है कि जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है, आज वे ही अंग विरह द्वारा जलाए जा रहे हैं–

**जिहि अंगहि तू बिलसिया ते दड्ढा विरहेण।**

**9. रस-निरूपण**–जैन-साहित्य में वैसे तो लगभग सभी रसों का निरूपण हुआ है परन्तु उसमें शृंगार-रस, शांत-रस और करुण-रस की प्रधानता है। यह पहले भी कहा जा चुका है कि जैन काव्य में मुख्यतः जैन-धर्म के सिद्धान्तों की महत्ता को प्रतिष्ठित किया गया है, अतः इसमें अधिकांश स्थलों पर करुण-रस भी अन्ततः शांत-रस में परिवर्तित हो जाता है, विशेषकर, जब शोकाकुल व्यथित, प्रताड़ित नायक या नायिका जैन-धर्म की दीक्षा ले लेते हैं। जहाँ तक शृंगार-रस का प्रश्न है, उसमें संयोग व वियोग दोनों पक्षों का वर्णन हुआ है। विप्रलम्भ शृंगार के भेदों, मान, पूर्वराग, प्रवास आदि के अनुरूप नायक-नायिका की दशा का वर्णन किया है। फिर भी यह अवश्य कहा जाएगा कि जैन साहित्य में संयोग शृंगार की तुलना में विप्रलम्भ शृंगार का अधिक विस्तार हुआ है। उदाहरण के लिए 'संदेश रासक' तो पूर्ण रूप से विप्रलम्भ शृंगार पर आधारित है। इसमें करुण-रस का निरूपण देखिए–

**ठाहि ठाहि बिमि सद्धु सुयरू अवहारी मणु।**
**णिसुणि किंपी जं जंपउं पहिप पसिज्जि खणु।।**

**10. भाषा एवं शैली**–जैन-साहित्य की भाषा अपभ्रंश है। परन्तु उसकी प्रारम्भिक रचनाओं में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा लोक भाषा के कहीं अधिक निकट है। इसे हम अवहट्ठ भाषा के नाम से भी पुकार सकते हैं। परन्तु जैन-साहित्य में जो प्रबन्धात्मक रचनाएँ हैं उनमें शुद्ध साहित्यिक अपभ्रंश भाषा का प्रयोग हुआ है। इन ग्रंथों की भाषा नियमों-उपनियमों से बँधी दिखाई देती है जबकि आरम्भिक रचनाओं की अपभ्रंश भाषा स्वच्छंद-सी जान पड़ती है। जैन-साहित्य की भाषा की दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें ध्वन्यात्मक शब्दों का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। भाव, दृश्य, वस्तु आदि की प्रभावशाली अभिव्यंजना के लिए कवि ध्वनि के अनुसार नए शब्द का निर्माण करने का प्रयास करता है। उदाहरण के लिए भँवरे की गुंजन के लिए कवि ने 'गुमगुंमत' निरर्थक शब्द का प्रयोग किया है।

जैन-साहित्य में चरित-काव्य और कथा-प्रधान काव्य में **कड़वक शैली** का प्रयोग हुआ है। जब कवि जैन-धर्म की महत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करता है, वहाँ पर वह भावात्मक शैली का प्रयोग करता है। जैन-धर्म के सिद्धान्तों, नियमों आदि का विवेचन करते समय जैन-कवियों ने उपदेशात्मक शैली का प्रयोग किया है। आध्यात्मिक विचारों के लिए जैन-कवियों ने प्रायः प्रतीकात्मक शैली का प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए–

**पंच बलद्दद णं रक्खियइं णायण वणु ण गओसि।**
**अप्पुण जाणिउ णवि परुवि एमइ पव्वइ ओसि।।**

Scanned with ACE Scanner

**आदिकालीन नाथ साहित्य क्या है? इसकी विशेषताएँ बताइए।**

**उत्तर–आदिकालीन नाथ साहित्य : प्रवृत्तियाँ/विशेषताएँ**–नाथ-साहित्य की परम्परा कहाँ से आरम्भ हुई–इस प्रश्न पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं। राहुल सांकृत्यायन ने नाथ-पंथ को सिद्ध-परम्परा का ही एक विकसित रूप माना है। कुछ विद्वानों ने व्रजयानी सिद्धों के वामाचार के विरोध में उठे नए सम्प्रदाय को नाथ-साहित्य कहा है। वस्तुतः सिद्धमत व नाथमत दोनों परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, दोनों में ही योग-साधना को अपनाया गया है। यहाँ तक कि कुछ सिद्ध-साधकों तथा नाथ-साधकों के नामों में भी समानता है जैसे–मीननाथ, जालंधर नाथ आदि। अतः नाथ-साहित्य की परम्परा के बारे में यह भी कहा जा सकता है कि वज्रयान शाखा में सिद्धों की तंत्र-साधना में बढ़ते मद्य-मैथुन के प्रयोग को देखकर कुछ साधकों ने एक अलग सम्प्रदाय बना लिया हो। परन्तु दो बातें भी ध्यान देने योग्य हैं कि नाथ-सम्प्रदाय में मूल चेतना शैव-दर्शन पर आधारित है। इस सम्प्रदाय के लोग शिव की उपासना करते हैं। दूसरी बात यह है कि सिद्ध-सम्प्रदाय में जहाँ अन्तर्मुखी-योग-साधना पर बल दिया गया था, वहीं नाथ-सम्प्रदाय में हठ-योग को अपनाया गया है। नाथमत व सिद्ध मत की पारस्परिक घनिष्ठता को देखकर ही आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कहा है–**"नाथ-पन्थ या नाथ-सम्प्रदाय के सिद्ध-मत, सिद्ध-मार्ग, योग-मार्ग, योग-सम्प्रदाय, अवधूत मत एवं अवधूत-सम्प्रदाय नाम भी प्रसिद्ध हैं।"** परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे नाथ तथा सिद्ध सम्प्रदाय–दोनों को एक ही मानते हैं।

नाथ-सम्प्रदाय में सर्वप्रथम आदिनाथ का नाम आता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उन्हें 'शिव' का रूप माना है। आदिनाथ के शिष्य का नाम मत्स्येन्द्रनाथ था। कहा जाता है कि मत्स्येन्द्रनाथ जब नारी-साहचर्य में जा फँसे थे, तब उनके शिष्य गोरखनाथ ने ही उनका उद्धार किया था। इस सम्प्रदाय में नाथों की संख्या नौ मानी गई है जिनमें मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, चौरंगीनाथ, जालन्धर नाथ आदि प्रमुख हैं।

इन सभी नौ नाथों में सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त गुरु गोरखनाथ हैं। डॉ. नगेन्द्र ने नाथ-साहित्य का आरम्भकर्ता भी उन्हें माना है। उन्होंने ही हठयोग का उपदेश दिया था। उन्होंने ही षट्-चक्र वाला योग-मार्ग हिन्दी साहित्य में चलाया था। उनकी रचनाओं की संख्या के बारे में विद्वानों में मतभेद हैं। डॉ. पीताम्बर बडथ्वाल ने उनकी रचनाओं की संख्या 14 निर्धारित की है जिनमें 'सबदी', 'पद', 'प्राण संकली', 'सिष्यादरसन' आदि प्रमुख हैं। उनके उपरांत अन्य नाथ-साधकों ने भी अनेक ग्रंथों की रचना की है परन्तु उनमें गोरखनाथ के भावों का ही अनुकरण किया गया है। नाथ-साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं–

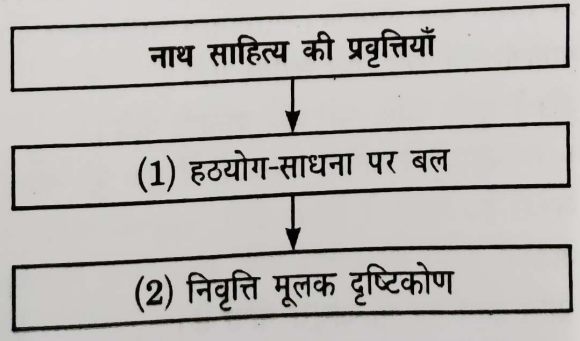


Scanned with ACE Scanner

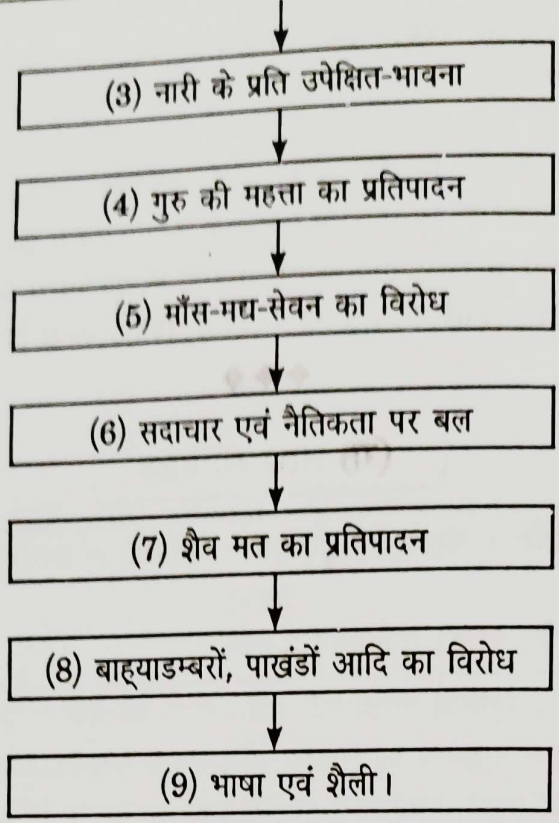


**1. हठयोग-साधना पर बल**–नाथ-साहित्य में हठयोग-साधना पर बल दिया गया है। इसके प्रवर्त्तक गोरखनाथ थे। हठयोगियों के प्रसिद्ध ग्रंथ–**'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति'** के अनुसार **'ह'** का अर्थ **सूर्य** व **'ठ'** का अर्थ **चन्द्रमा** है। इन दोनों के योग से ही हठयोग बना है। हठयोगी अपने हठयोग के बल पर प्राणायाम की प्रक्रिया पूरी करता है, फिर इड़ा, सुषमना के समीकरण से कुण्डलिनी को जाग्रत करता है। उसके बाद वह षट्चक्रों का भेदन करता हुआ सहज दशा या समरसता को प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में गोरखनाथ कहते हैं–

**अवधू ईड़ा मारग चंद्र मणीजै, प्यगुला मारग मानं।**
**सुषमनां मारग वांणी बोलिए, त्रिय मूल अस्थानं।।**

**2. निवृत्ति मूलक दृष्टिकोण**–नाथ-पंथी संसार की भोग-विलास एवं उपभोग की प्रवृत्ति के स्थान पर उससे निवृत्त होने पर बल देते हैं। वे गृहस्थ, संसार आदि के बंधनों से मुक्त रहने की बात कहते हैं। उनके अनुसार जब मनुष्य का मन तथा इन्द्रियाँ इस संसार के भोग-विलास से बँध जाते हैं तो उसकी मुक्ति नहीं हो सकती। इस संसार से मुक्ति के लिए मन में वैराग्य की भावना होनी आवश्यक है। वैरागी होने पर ही प्राणायाम में एकाग्रता आती है। वैराग्य से ही साधक बिना किसी रोक-टोक के योग-साधना में लीन रह सकता है। अतः नाथपंथी निवृत्ति-मूलक मार्ग को अपनाने का आग्रह करते हुए कहते हैं–

**भोगिया सूते अनहूँ न जागे, भोग नहिं रे रोग अभागे।**
**बंदत गोरखनाथ आतमां विचारंत, ज्यूँ लस दीसै चंदा।।**

**3. नारी के प्रति उपेक्षा**–सिद्ध-मत में जहाँ नारी को योगिनी या महामुद्रा कहकर योग-साधना में स्वीकार किया गया था, वहीं नाथपंथियों ने नारी को माया कहकर उसका तिरस्कार किया है। उन्होंने नारी को 'कामिनी' कहकर उसकी निंदा की है तथा उससे दूर रहने के लिए मनुष्य व साधक को सचेत किया है। योगी की योग-साधना में नारी बाधक बताई गई है। नाथ योगियों ने ब्रह्मचर्य, संयम, इन्द्रिय-निग्रह आदि पर विशेष बल दिया है। गोरखनाथ नारी-निन्दा करते हुए लिखते हैं–

**दिवसै बाघिणी मन मोहैं, रात सरोवर सोषै।**
**जानि बुझि रे मूरषि लोगै, घरि घरि बाघिनी पोषै।।**

**4. गुरु की महत्ता का प्रतिपादन**–नाथपंथियों ने अपनी रचनाओं में गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। उनके अनुसार ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु का होना जरूरी है। परन्तु वे किसी ढोंगी, पाखण्डी व्यक्ति को गुरु नहीं मानते। उनके अनुसार तो गुरु ऐसा ज्ञानी होना चाहिए जो अपने अज्ञानी शिष्य को अज्ञान रूपी अंधकार से निकालकर ज्ञान के प्रकाश में लाकर खड़ा कर दे। गोरखनाथ ने तो गुरु के अभाव में प्राप्त ज्ञान को भी अधूरा माना है।

Scanned with ACE Scanner

वे लिखते हैं–

**गुरु कीजै गहिला, निगुरा न रहिला।**
**गुरु बिन ग्यान न, पाईला रे भाईला।।**

**5. माँस-मद्य-सेवन का विरोध**–जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि नाथपंथी सिद्ध पंथी से अनेक बातों में भिन्न हैं। इस पंथ में माँस, मद्य के सेवन का निषेध किया गया है। नाथपंथियों का मत है कि माँस, मदिरा आदि के सेवन से मनुष्य में तामसी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है जिससे वह काम, क्रोध, ईर्ष्या, घृणा, मोह आदि से ग्रस्त हो जाता है। ये मनोविकार साधक की साधना में बाधा उत्पन्न करते हैं। इसीलिए साधक को सात्विक वृत्ति बनाए रखने के लिए माँस, मदिरा आदि से दूर रहना चाहिए। गोरखनाथ माँस-मदिरा का सेवन करने वालों को समझाते हुए कहते हैं–

**अवधू माँस भषन्त दया धरम का नास।**
**मद पीवत तहाँ प्राणं निरास।।**
**भांगि भषंत ग्यानं ध्यानं षेवंत।**
**जम दरबारी ते प्राणी रोवंत।।**

**6. सदाचार एवं नैतिकता पर बल**–नाथपंथी सदाचार एवं नैतिकता पर बल देते हैं। उनकी दृष्टि में वही योगी श्रेष्ठ है जो माँस-मदिरा का सेवन न करे, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने वीर्य की रक्षा करे, सुख-दुःख को समान भाव से ग्रहण करे, चित्त को दृढ़ रखे और सांसारिक भोग-विलास में पड़कर अपने चरित्र का नाश न करे। उनके अनुसार सदाचार तथा नैतिकता के अभाव में साधक एकाग्रचित्त होकर ध्यान नहीं कर सकता। फलतः ऐसी दशा में उसके योग-साधना के प्रयास भी व्यर्थ चले जाते हैं। सदाचार व नैतिकता का आह्वान करते हुए वे लिखते हैं–

**हबकि न बोलिबा ठबकि न चलिबा धीरे-धीरे धरिबा पावं।**
**गरब न करिबा, सहज रहिबा, भणत गोरवं रावं।।**

**7. शैव मत का प्रतिपादन**–नाथपंथी शिव की उपासना करते हैं। उनके अनुसार शिव ही आदि नाथ थे। उनका मत है परम-शिव की इच्छा से ही शिव तथा शक्ति का जन्म हुआ और फिर सृष्टि का विकास हुआ। शिव का धर्म शक्ति है और शिव के अभाव में शक्ति व्यर्थ है। अतः दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। उनके अनुसार शक्ति के तीन रूप हैं–चित्त शक्ति, मायाशक्ति व जीवशक्ति। मायाशक्ति जब जीव को अपने अधीन करके उसे दुःखों के सागर में धकेल देती है तब जीव अपनी चित्त-शक्ति से शिव को प्रसन्न करके अपनी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करता है। अतः नाथ पंथ में शैव-मत का प्रतिपादन हुआ है। यथा–

**चारि कला रवि की, जे ससि धरि आवै।**
**तो सिवसक्ति संमिहवै, अंत कोई न पावै।।**

**8. बाह्याडम्बरों, पाखंडों आदि का विरोध**–नाथ-साहित्य में बाह्याचारों, पाखंडों आदि का विरोध किया गया है क्योंकि उनके मतानुसार यदि मनुष्य का मन पवित्र है तो वह अपनी योग-साधना के बल पर सहज दशा को प्राप्त कर सकता है। अतः वे तीर्थाटन, मंदिरों में मूर्ति-पूजा आदि का विरोध करते हैं। वे तो मनुष्य के शरीर में ही सभी अड़सठ तीर्थों का वास मानते हैं। यथा–

**पंथि चलै चलि पवना तूटै, नाद बिंदु अरुझाई।**
**घट ही भीतरि अठसठ तीरथ, कहाँ भ्रमै रे भाई।।**

**9. भाषा एवं शैली**–नाथों के साहित्य में प्रयुक्त भाषा को **संध्या भाषा** कहा जा सकता है। वस्तुतः उनकी भाषा तत्कालीन जनभाषा के अधिक निकट है। उनकी भाषा में अवधी, भोजपुरी, राजस्थानी, पंजाबी, मगही आदि बोलियों के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है। इसमें सिद्ध-साहित्य के अनुरूप ही पारिभाषिक एवं सांकेतिक शब्दावली का भी प्रयोग किया है। उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों में नाद, बिन्दु, इड़ा, पिंगला, शून्य, पिण्ड, सहज, सुरति आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार उन्होंने जिन सांकेतिक या प्रतीक-मूलक शब्दों का प्रयोग किया है उनमें गाय, मृग, हंस, गंगा, यमुना, मीन, सिंह आदि प्रमुख हैं। इन शब्दों के प्रयोग से उन्होंने अपनी रहस्यानुभूति को अभिव्यक्त किया है। नाथपंथियों की शैली में सपाट बयानी साफ दिखाई देती है। उनकी रचनाओं में कहीं-कहीं व्यंग्यात्मक शैली के भी दर्शन होते हैं।

चूँकि नाथ-पंथियों में सरल, स्पष्ट ढंग से बात कहने की प्रवृत्ति पाई जाती है, अतः उनके काव्य में अभिधा शब्द-शक्ति का प्राधान्य है। परन्तु जहाँ भी उन्होंने उलटबाँसियों या प्रतीकात्मक भाषा का प्रयोग किया है, वहाँ पर लक्षणा शब्द-शक्ति है।

Scanned with ACE Scanner

**पृथ्वीराज रासो एक प्रामाणिक रचना है अथवा अप्रामाणिक युक्तियुक्त उत्तर दीजिए।**

**उत्तर–पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता**–आरंभ में अधिकांश विद्वान पृथ्वीराज रासो को एक प्रामाणिक ग्रंथ समझते थे। इसीलिए कर्नल टॉड इसके साहित्य-सौंदर्य पर मुग्ध हो गया। उसने रासो के लगभग तीन हजार पद्यों का अंग्रेजी में अनुवाद भी किया। आगे चलकर फ्रेंच विद्वान गार्सा द तासी ने इस ग्रंथ को प्रामाणिक घोषित कर दिया। यही कारण है कि रॉयल एशियाटिक सोसायटी ने इसका प्रकाशन आरंभ कर दिया। परन्तु इसी बीच 1875 ई. में डॉ. बूलर को कश्मीर से **जयानक भट्ट** की रचना **'पृथ्वीराज विजय'** प्राप्त हुई जो कि संस्कृत में रचित है। इस ग्रंथ को पढ़ने से यह पता लगा कि इसकी अधिकांश घटनाएं रासो की अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हैं। अतः प्रो. बूलर को रासो की प्रामाणिकता पर संदेह होने लगा। अतः उन्होंने इसका प्रकाशन रुकवा दिया।

रासो की प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त करने वालों में जोधपुर के कवि मुरारीदान और उदयपुर के कवि श्यामल दास थे। परन्तु जब डॉ. बूलर ने पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त किया तो असंख्य भारतीय विद्वान बूलर के पक्ष में हो गए। विशेषकर गौरी शंकर हीराचंद ओझा ने अनेक प्रमाण देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि यह एक आप्रामाणिक रचना है। उधर डॉ. दशरथ शर्मा ने ओझा द्वारा उठाई गई शंकाओं को निर्मूल सिद्ध करने के लिए कुछ प्रमाण देकर यह सिद्ध कर दिखाया कि रासो एक प्रामाणिक ग्रंथ है। सच्चाई तो यह है कि रासो की प्रामाणिकता आज भी संदेहास्पद बनी हुई है। कुछ विद्वान इसे प्रामाणिक मानते हैं, कुछ अप्रामाणिक और कुछ अर्धप्रामाणिक। एक वर्ग ऐसा भी है जो कवि चन्दबरदायी को पृथ्वीराज का समकालीन मानता है तथा साथ यह भी कहता है कि उसने पृथ्वीराज रासो की रचना की। इस संदर्भ में विद्वानों के चार वर्ग हैं–

**1. प्रथम वर्ग**–प्रथम वर्ग में कविराज श्यामल दास, कविराज मुरारीदान, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डॉ. बूलर, मारिसन, श्री अमृतलाल शील, मुंशीदेवी प्रसाद, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और डॉ. रामकुमार वर्मा आदि विद्वान हैं। यह वर्ग रासो को सर्वथा अप्रामाणिक घोषित करता है। इन विद्वानों का यह कहना है कि चन्द का अस्तित्व ही संदेहास्पद है और वह पृथ्वीराज का समकालीन नहीं था।

**2. द्वितीय वर्ग**–इस वर्ग में डॉ. श्यामसुंदर दास, मथुरा प्रसाद दीक्षित, मोहनलाल विष्णुलाल पाण्डया, मिश्रबन्धु, मोतीलाल मनेरिया आदि कुछ विद्वान हैं। इस वर्ग के विद्वान रासो के वर्तमान रूप को प्रामाणिक मानते हैं तथा चन्दबरदायी को पृथ्वीराज का समकालीन मानते हैं। परन्तु इनका मानना है कि रासो में काफी प्रक्षिप्त अंश जुड़ गए हैं।

Scanned with ACE Scanner

**3. तृतीय वर्ग**–इस वर्ग में डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी, मुनिजिन विजय, अगरचन्द नाटा, कविराज मोहन सिंह तथा हजारी प्रसाद द्विवेदी के नाम आते हैं। इन विद्वानों का कहना है कि पृथ्वीराज के दरबार में चन्द नाम का एक कवि था जिसने रासो की रचना की थी। परन्तु यह ग्रंथ अपने मूल रूप में प्राप्त नहीं है। आज जो रासो प्राप्त है वह मूल रासो का परिवर्तित और विकृत रूप है। अतः रासो एक अर्धप्रामाणिक रचना है।

**4. चतुर्थ वर्ग**–इस वर्ग में निरोत्तम स्वामी का नाम आता है। उन्होंने कहा कि चन्द पृथ्वीराज का समकालीन था परन्तु उसने प्रबंध रूप में रासो की रचना नहीं की। निरोत्तम स्वामी जैन ग्रंथमाला में रचित फुटकर पदों को फुटकर रचना कहता है।

### *(क) रासो की अप्रामाणिकता के प्रमुख कारण*

विद्वानों ने रासो को अप्रामाणिक मानने के लिए तीन कारणों की चर्चा की है–

1. घटना वैषम्य 2. काल वैषम्य 3. भाषा संबंधी अव्यवस्था।

**1. घटना वैषम्य**–रासो में दिए गए अनेक नाम तथा घटनाएं इतिहास से मेल नहीं खातीं।

(i) 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित अनेक घटनाएं व पात्रों के नाम इतिहास से मेल नहीं खाते। इस ग्रंथ में परमार, चालुक्य आदि क्षत्रियों को अग्निवंशी बताया गया है जबकि वे सूर्यवंशी सिद्ध हुए हैं।

(ii) 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज की माँ का नाम कर्पूर देवी के स्थान पर कमला बताया गया है।

(iii) इतिहास के अनुसार अनंगपाल दिल्ली का शासक नहीं था और न ही उसने पृथ्वीराज को गोद लिया था जबकि 'पृथ्वीराज रासो' में इन तथ्यों को दर्शाया गया है।

(iv) 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज के चौदह विवाहों का उल्लेख किया गया है। यह तथ्य भी इतिहास से मेल नहीं खाता।

(v) 'पृथ्वीराज रासो' में गुजरात के राजा भीमसिंह का वध पृथ्वीराज के हाथों होते दर्शाया गया है जबकि यह घटना भी इतिहास सम्मत नहीं है।

(vi) इतिहास की दृष्टि से 'पृथ्वीराज रासो' में वर्णित 'सोमेश्वर वध' भी अशुद्ध सिद्ध होता है।

(vii) पृथ्वीराज के हाथों गौरी का वध भी इतिहास से मेल नहीं खाता।

(viii) 'पृथ्वीराज रासो' में पृथ्वीराज की बहन प्रथा का विवाह मेवाड़ के राजा 'समरसिंह' के साथ होना बताया गया है। यह तथ्य भी इतिहास से मेल नहीं खाता क्योंकि शिलालेखों के अनुसार 'समरसिंह' पृथ्वीराज के बाद 109 वर्षों तक जीवित रहा था।

(ix) 'पृथ्वीराज रासो' में दी गई तिथियों में भी अशुद्धियां हैं। पृथ्वीराज के जीवन संबंधी घटनाओं की इन तिथियों तथा इतिहास की तिथियों में लगभग 90-100 वर्षों का अन्तर है।

(x) पृथ्वीराज का गोद जाना, संयोगिता स्वयंवर की घटना भी इतिहास सम्मत नहीं है।

(xi) 'पृथ्वीराज रासो' में अरबी, फारसी के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है जबकि चन्दबरदायी तथा पृथ्वीराज के काल में अरबी एवं फारसी के शब्दों के प्रयोग का अधिक प्रचलन नहीं था।

**2. काल वैषम्य**–रासो में दी गई तिथियों तथा सम्वत् भी इतिहास से मेल नहीं खाते। कर्नल टॉड का कहना है कि रासो में दिए गए सम्वतों तथा ऐतिहासिक सम्वतों में सौ वर्ष का अन्तर है।

(i) रासो में पृथ्वीराज की मृत्यु का सम्वत् 1158 माना गया है परन्तु इतिहास के अनुसार यह सम्वत् 1148 है। पृथ्वीराज का जन्म सम्वत् 1115 माना है। परन्तु इतिहास के अनुसार 1220 है।

(ii) आबू पर भीम चालुक्य का आक्रमण तथा शाहबुद्दीन के साथ पूराजेर युद्ध की तिथियाँ भी सही नहीं मानी जाती।

(iii) पृथ्वीराज के जीवन की घटनाएं, उसका गोद लिया जाना, मेवाती मुगल युद्ध, संयोगिता स्वयंवर घटनाओं का हम्मीर रासो में उल्लेख नहीं मिलता। जिसकी रचना सम्वत् 1460 के आसपास हुई थी।

(iv) रासोकार का कहना है कि शहाबुद्दीन गौरी का वध पृथ्वीराज ने सम्वत् 1214 में किया था परन्तु इतिहास के अनुसार गौरी का वध सम्वत् 1263 में शक्खर जाति द्वारा हुआ था।

Scanned with ACE Scanner

इससे यह स्पष्ट होता है कि रासो कोई प्रामाणिक ग्रंथ नहीं है। यदि होता तो इसमें इतनी सारी अशुद्धियां न होतीं। इस संदर्भ में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल लिखते भी हैं–**"इस संबंध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं है कि यह ग्रंथ पूरा जाली है। यह हो सकता है कि इसमें इधर-उधर चन्द के कुछ पद्य भी बिखरे हों। पर उनका पता लगाना असंभव है। यदि किसी समसामयिक कवि का रचा होता और इसमें कुछ थोड़े अंश ही पीछे से मिले होते तो कुछ घटनाएं और इसमें कुछ सम्वत् तो ठीक होते।"**

**3. भाषा संबंधी अव्यवस्था**–रासो में अरबी, फारसी भाषाओं के शब्दों का अधिक प्रयोग मिलता है जो यह सिद्ध करता है कि चन्द के समय में इन भाषाओं का प्रयोग नहीं होता था। भाषा के आधार पर चन्द की रचना 16वीं शताब्दी ही सिद्ध होती है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री धीरेन्द्र वर्मा ने भी रासो को 16वीं शताब्दी की रचना माना है। आचार्य शुक्ल लिखते भी हैं–**"यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास और न ही साहित्य के जिज्ञासुओं का काम है।"**

### *(ख) रासो को प्रामाणिक मानने वाले विद्वानों का मत*

परन्तु रासो को एक दम जाली ग्रंथ भी नहीं कहा जा सकता। इसमें काफी प्रक्षिप्त अंश जुड़ गए हैं जिससे इसका मूलरूप विकृत हो गया है। इसका मूल रूप साहित्य तथा अध्ययन की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखता है। उल्लेखनीय बात यह है कि रासो के चार संस्करणों में से लघु संस्करण में अधिक प्रक्षिप्त अंश नहीं हैं। मुनि जिन विजय ने स्वीकार किया है कि रासो का मूल रूप बहुत छोटा था और उसकी भाषा अपभ्रंश थी। पुरातत्व प्रबंध संग्रह में रासो के चार छंद प्राप्त हुए हैं। ये चारों लघुत्तम प्रतियों में भी हैं। यह ग्रंथ लगभग 15वी शताब्दी का माना गया है। इस संबंध में डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते भी हैं–

**"इन पद्यों के प्रकाशन के बाद अब इस विषय में किसी को संदेह नहीं रह गया है कि चंद नामक कवि पृथ्वीराज के दरबार में अवश्य थे और उन्होंने ग्रंथ भी लिखा है। सौभाग्य से रासो में ये कुछ छंद कुछ विकृत रूप में प्राप्त हो गए हैं। इस पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान रासो में चन्द्र के मूल छंद अवश्य मिले हुए हैं।"**

**1. डॉ. दशरथ शर्मा का मत**–डॉ. दशरथ शर्मा ने सभी मतों का खंडन करते हुए कहा है कि–

(i) मूल ग्रंथ रासो जाली नहीं है। इसकी रचना 1600 के आसपास नहीं हुई। लघुत्तम प्रतियों में न घटना वैषम्य है न काल वैषम्य है और न ही भाषा संबंधी अव्यवस्था है। यही नहीं इनमें इतिहास संबंधी त्रुटिपूर्ण घटनाओं का उल्लेख नहीं किया गया।

(ii) लघुत्तम प्रतियों के आधार पर राजपूत कुल की अग्निकुंड से उत्पत्ति नहीं हुई बल्कि ब्रह्मा के यज्ञ से वीर चौहान माणिक राय के उत्पन्न होने का उल्लेख मिलता है।

(iii) रासो की अशुद्ध वंशावली का विस्तार बीकानेर की लघुत्तम प्रति में नहीं है केवल कुछ नामों का अंतर विद्यमान है।

(iv) अनंगपाल तथा पृथ्वीराज के संबंध की चर्चा तो लघुत्तम प्रति में भी है।

(v) संयोगिता स्वयंवर का वर्णन सभी प्रतियों में विस्तारपूर्वक किया गया है परंतु लघुत्तम प्रति इच्छिनि विवाह का वर्णन मिलता है।

(vi) प्रथा का विवाह, शहाबुद्दीन समर सिंह युद्ध, भीम-सोमेश्वर युद्ध, पृथ्वीराज-सोमेश्वर युद्ध का वर्णन इस प्रति में नहीं मिलता और न ही इसमें पृथ्वीराज-पद्मावती के विवाह का वर्णन है।

(vii) लघुत्तम प्रति में कैमासवध का वर्णन मिलता है। पृथ्वीराज विजय के अनुसार कैमास पृथ्वीराज का प्रधान था। डॉ. दशरथ शर्मा अंत में लिखते हैं–**"सारांश यह है कि अपने मूल रूप में रासो की ऐतिहासिकता अक्षुण्ण है। इस समय आवश्यकता इस बात की है कि बीकानेर की प्रति से भी रासो की पुरानी प्रति को खोज निकाला जाए। यदि रासो की प्राचीनतम प्रति मिल जाए तो उसमें निश्चित रूप से सुर्जन-चरित में उद्धत बातें मिलेंगी, क्योंकि यह संस्कृत में रासो का सारांश है।"**

**डॉ. मोहन लाल विष्णुलाल पाण्डया तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत–**

(i) जो विद्वान रासो के काल तथा इतिहास की तिथियों में 90 से 100 वर्षों का अंतर मानते हैं उनके तर्क का खण्डन करते हुए मोहन लाल विष्णुलाल पाण्डया ने 'आनंद संवत्' की कल्पना करके इसकी सभी तिथियों की अशुद्धियों को निरर्थक सिद्ध कर दिया। अगर 'पृथ्वीराज रासो' की तिथियों को 'आनन्द संवत्' के अनुरूप माना जाए तो ये सभी तिथियाँ इतिहास सम्मत ठहरती हैं।

Scanned with ACE Scanner

(ii) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह सिद्ध किया है कि 12वीं शताब्दी की भाषा में जो संयुक्त अरं मयी अनुस्वारांत की प्रवृत्ति मिलती है, वही प्रवृत्ति "पृथ्वीराज रासो" में भी मिलती है। अतः निश्चय ही यह कृति 12वीं शती की रचना सिद्ध होती है।

(iii) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने संवाद शैली के आधार पर इसे प्रामाणिक रचना माना है। वे कहते हैं कि 'पृथ्वीराज रासो' की रचना 'शुक शुकी' के संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन संर्गों में यह शैली नहीं मिलती, उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहिए। इस दृष्टि से भी पृथ्वीराज रासो के केवल वे अंश ही प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं जिनमें इतिहास विरुद्ध तथ्य है। शुक–शुकी संवाद से जिन सर्गों का आरम्भ होता है, यदि उन सर्गों को संकलित करके इसकी रचना की जाए, तो वे सभी तर्क स्वयं ही व्यर्थ हो जाते हैं, जिनके आधार पर इसे अप्रामाणिक रचना बताया जाता है।

(iv) जो विद्वान इस रचना को अरबी-फारसी शब्दों का बाहुल्य के आधार पर अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं उनके विरुद्ध यह तर्क दिया जा सकता है कि चंदबरदाई मूल रूप से लाहौर का निवासी था। तत्कालीन युग में लाहौर के आस-पास के क्षेत्रों पर मुस्लिम आक्रमणकारियों का प्रभाव पड़ चुका था। ऐसी दशा में चंदबरदाई द्वारा अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग किया जाना स्वाभाविक है।

(v) जो विद्वान केवल इतिहास के तथ्यों, तिथियों, घटनाओं के आधार पर इस ग्रंथ को अप्रामाणिक सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। उन्हें इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पृथ्वीराज रासो एक साहित्यिक रचना है। यह कोई इतिहास ग्रंथ नहीं है। साहित्यिक रचना व इतिहास में मूल भेद ही कल्पना का समावेश होता है। इतिहास में कल्पना का कोई स्थान नहीं होता। जबकि साहित्यिक रचना में कल्पना का समावेश अनिवार्य है। अतः इस रचना को केवल इतिहास का चश्मा लगाकर न देखा जाए।

**3. भाषा संबंधी अव्यवस्था का प्रश्न**–पृथ्वीराज रासो को प्रामाणिक सिद्ध करने वाले विद्वानों ने भाषा संबंधी अव्यवस्था का समाधान भी प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि उस समय मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो चुके थे। विशेषकर, लाहौर विदेशियों के संपर्क में आ चुका था। असंख्य विदेशी व्यापारी लाहौर में व्यापार के लिए आते थे। चन्द लाहौर का ही निवासी था अतः उसके पृथ्वीराज रासो में अरबी-फारसी का यत्र-तत्र प्रयोग किया है। इस प्रकार पृथ्वीराज को अप्रामाणिक मानना उचित नहीं है।

**निष्कर्ष**–संक्षेप में रासो की प्रामाणिकता तथा अप्रामाणिकता को लेकर अनेक मत प्राप्त होते हैं। परंतु रासो को अप्रामाणिक घोषित नहीं किया जा सकता। रासो का लघुत्तम संस्करण उसके मूल रूप के काफी समीप है फिर चन्दबरदाई ने थोड़ा बहुत अपनी कल्पना का प्रयोग भी किया होगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि चन्द पृथ्वीराज का मित्र होने के साथ-साथ उसका दरबारी कवि भी था। उसका मूल-रूप अपभ्रंश में ही रचवाया हो। दूसरा यह रचना केवल एक साहित्यिक रचना है जिसमें इतिहास के साथ कल्पना का प्रयोग किया गया है। इस संदर्भ में हजारी प्रसाद द्विवेदी ने उचित ही लिखा है–**"निरर्थक मंथन से जो दुस्तर फेन राशि तैयार हुई है उसे पार करके ग्रंथ के साहित्यिक रस तक पहुँचाना हिन्दी के विद्यार्थी के लिए असंभव-सा व्यापार हो गया है"**।

◆◆◆

Scanned with ACE Scanner

*अथवा*

**भक्तिकालीन परिस्थितियों की विवेचना कीजिए।**

---

**उत्तर–भक्तिकालीन परिवेश**–परिवेश का अभिप्राय होता है–वातावरण। साहित्यिक संदर्भ में वातावरण के अंतर्गत किसी काल विशेष की सामाजिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का विवेचन किया जाता है क्योंकि इनका काल विशेष के साहित्य पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हिन्दी साहित्य का 'भक्तिकाल' एक ऐसा काल है, जिसके नामकरण के विषय में प्रायः अधिकांश विद्वान एकमत है तथा कमोबेश इसका सीमा-निर्धारण भी किसी विवाद का विषय नहीं है।

हिन्दी साहित्य में भक्ति-काल की समय-सीमा आचार्य रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार संवत् 1375 से संवत् 1700 तक मानी गई है। इस काल का नामकरण इस युग में रचे गए भक्ति-साहित्य के आधार पर किया गया है। वैसे **आचार्य शुक्ल** ने इसे **'पूर्व-मध्यकाल'** भी कहा है। इसे केवल विचित्र संयोग ही कहा जाएगा कि जिस अवधि को हिन्दी साहित्येतिहास में 'भक्ति-काल' कहा गया है, ऐतिहासिक व सामाजिक दृष्टि से यह अवधि भीषण रक्त-पात, नरसंहार व राजनीतिक उथल-पुथल से भरी है। भक्तिकालीन परिवेश को हम मुख्यतः निम्नलिखित वर्गों में बाँट कर उसका अध्ययन कर सकते हैं–

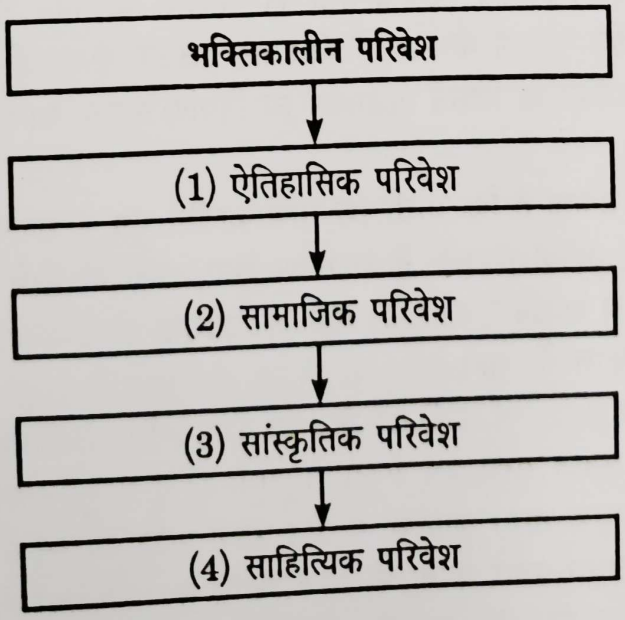




Scanned with ACE Scanner

**1. ऐतिहासिक परिवेश**–ऐतिहासिक दृष्टि से भक्तिकाल का आरम्भ दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक के राज्य-काल (1325-1351) के दौरान हुआ। इतिहासकार तुगलक को महत्त्वाकांक्षी परन्तु अव्यावहारिक मानते हैं। उसने कुछ ऐसे अदूरदर्शितापूर्ण निर्णय लिए जिसके कारण उसके राज्य एवं राजकोष पर विपरीत प्रभाव पड़ा। उसने **दिल्ली** के स्थान पर **देवगिरि** को अपनी राजधानी बनाने का प्रयास किया जिसके कारण दिल्ली प्रदेश उजाड़ हो गया, परन्तु कुछ समय बाद उसने पुनः दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। इसी प्रकार उसने सोने के स्थान पर तांबे के सिक्के चलाने का जो प्रयास किया था, उसके कारण उसके राजकोष पर बड़ा विपरीत प्रभाव पड़ा। लोगों ने तांबे के नकली सिक्के बनाने शुरू कर दिए। जब उसने पुनः सोने के सिक्कों का प्रचलन आरम्भ किया, उस समय भी लोगों ने भारी मात्रा में तांबों के नकली सिक्के बनाकर राजकोष से सोने के सिक्के प्राप्त किए। यद्यपि तुगलक उदार स्वभाव का व्यक्ति था, परन्तु उसके पुत्र फिरोजशाह तुगलक ने हिन्दुओं के साथ पक्षपात भरा व्यवहार किया। वह एक अयोग्य शासक था और इसीलिए उसके शासन काल में अनेक सूबेदारों ने विद्रोह कर दिया। इस प्रकार दिल्ली सल्तनत में बिखराव उत्पन्न हो गया। उसका उत्तराधिकारी 'जौनासाहि' भी एक अयोग्य शासक सिद्ध हुआ और अन्त में सुल्तान महमूदशाह की मृत्यु के बाद सन् 1412 ई. में दिल्ली पर तुगलक वंश का आधिपत्य नष्ट हो गया।

तुगलक वंश के बाद **खिज्रखां** ने दिल्ली पर अधिकार जमाकर **सैयद-वंश** का शासन स्थापित किया जो सन् 1451 ई. तक चलता रहा। परन्तु इस अवधि में दिल्ली के सिंहासन पर कोई भी विशेष महत्त्वाकांक्षी व्यक्ति बैठ नहीं सका। इस प्रकार शीघ्र ही **लोदी** वंश के शासकों ने दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया, परन्तु लोदी वंश के शासकों को भी बार-बार युद्धों में भाग लेना पड़ा क्योंकि उस समय मुगल वंश के शासक भारत में अपने पैर जमाने के लिए प्रयासरत थे। लोदी वंश का अंतिम शासक इब्राहिम लोदी था जिसे मुगल-वंश के संस्थापक बाबर ने पानीपत के युद्ध में हराकर दिल्ली पर अपना शासन चलाया।

यद्यपि इस समय तक भारत के अधिकांश राज्य, रियासतें मुस्लिम शासकों के अधीन थीं, फिर भी मेवाड़ का हिन्दू शासक राणा सांगा अपने राज्य का सफलतापूर्वक संचालन कर रहा था। परन्तु सन् 1527 ई. में दिल्ली के शासक बाबर ने उसे पराजित कर अपने अधीन कर लिया। निस्संदेह बाबर एक कुशल योद्धा था, परन्तु उसकी असामयिक मृत्यु ने दिल्ली शासन पर अधिकार जमाने के लिए अनेक राजाओं को युद्ध के लिए प्रेरित किया। बाबर का पुत्र हुमायूँ उस समय केवल ग्यारह वर्ष का था। फलतः शेरशाह सूरी ने उसे युद्ध क्षेत्र में पराजित कर दिल्ली पर अपना अधिकार जमा लिया। शेरशाह सूरी एक कुशल शासक था। उसने अपने शासन-काल में भूमि-सुधार, राजमार्ग निर्माण आदि के संबंध में अनेक उल्लेखनीय कार्य किए।

शेरशाह सूरी की मृत्यु के उपरांत हुमायूँ ने पुनः दिल्ली पर आक्रमण कर दिया और वहाँ का शासक बन बैठा। उसकी असामयिक मृत्यु के कारण उसका तेरह वर्षीय पुत्र अकबर दिल्ली का शासक बना। उसने रेवाड़ी के राजा राव हेमू को पराजित कर अपनी स्थिति सुदृढ़ कर ली। अकबर के शासन काल में भारतीय समाज ने विशेष तरक्की की। चूँकि अकबर दूसरे धर्मों का आदर करता था। वह उदार तथा कला-प्रेमी व्यक्ति भी था, अतः यह काल भारतीय राजनीति में मुगल वंश का स्वर्णिम काल माना जाता है। अकबर की मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र जहाँगीर दिल्ली का शासक बना। उसने शेर अफगान की हत्या करके उसकी पत्नी नूरजहाँ को अपनी पत्नी बनाया। उसने निष्पक्ष न्याय-प्रणाली की व्यवस्था की, फिर भी वह नशे का आदी था। अतः उसके शासन काल में राज-काज की पूरी बागडोर नूरजहाँ के हाथ में थी। सन् 1627 में उसकी मृत्यु के उपरांत उसका पुत्र शाहजहाँ दिल्ली का शासक बना। वह कला-प्रेमी व्यक्ति था जिसने ताजमहल का निर्माण कराया था। उसका शासन-काल भारतीय राजनीति का स्वर्णिम युग कहलाता है।

इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि आरम्भिक भक्तिकालीन युग में राजनीतिक परिस्थितियाँ बड़ी भयावह थीं। दिल्ली पर शासन स्थापित करने के लिए अनेक राजाओं ने आक्रमण किए, राजा के मरने पर उसके उत्तराधिकारियों में षड्यंत्र हुए और हर बार भारी नरसंहार के बाद ही शासन बदलते थे। एक बार शासक बनने के बाद भी राजा शांतिपूर्वक जीवन व्यतीत नहीं कर पाता था क्योंकि उसके शासन-काल में स्थान-स्थान पर विद्रोह होते रहते थे।

**2. सामाजिक परिवेश**–भारतीय समाज आरम्भ से ही वर्ग-व्यवस्था तथा वर्ण-व्यवस्था पर टिका है। इसमें भिन्न-भिन्न जातियों का प्रचलन है। भक्ति-काल में भारतीय समाज मुख्य रूप से दो समुदायों–हिन्दू व मुसलमान के नाम पर बँटा हुआ था। अरब देशों, मंगोल आदि देशों से जो मुस्लिम शासक भारत आए थे, वे और उनके पूर्वज आरम्भ में तो भ्रातृ-भाव का सन्देश लेकर चले थे। उनका मुख्य उद्देश्य इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार करना भी था। उन्होंने मूल भारतीयों के लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग करके इन दोनों समुदायों के बीच खाई उत्पन्न कर दी। चूँकि भारतीय समाज में धर्म-परिवर्तन की कोई शास्त्रीय व्यवस्था नहीं थी और अपना धर्म-परिवर्तन करना भारतीयों को अपने संस्कार के विरुद्ध जान पड़ता था। फलतः मुस्लिम शासकों ने अब तलवार की

Scanned with ACE Scanner

नोंक पर अनेक हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन के लिए विवश किया। चूँकि तत्कालीन समाज में अधिकांश शासक एवं उसके कर्मचारी व अधिकारीगण मुसलमान ही होते थे, अतः उनके द्वारा अपनाई गईं अधिकांश नीतियाँ हिन्दूधर्म के विरोध में ही होती थीं, ताकि वे हिन्दुओं पर अत्याचार कर सकें और उन्हें इस्लाम धर्म अपनाने के लिए विवश कर सकें।

दूसरी ओर भारतीय समाज में हिन्दू समुदाय भी अनेक जातियों में बँटा हुआ था। उच्च वर्ग की जातियों के लोग निम्न जातियों के लोगों पर अत्याचार करते थे। इस प्रकार हिन्दू समाज भी मुस्लिम समाज व इस्लाम धर्म का एकजुट होकर सामना न कर सका। तत्कालीन हिन्दू समाज की मुट्ठी-भर उच्च जातियाँ असीम उपजातियों या निम्न जातियों के साथ भेद-भाव करती थीं। उदाहरण के लिए ब्राह्मण को मंदिर का संचालन करने, पूजा-अर्चना का पूरा अधिकार था, वहीं दूसरी ओर शूद्र वर्ण की जातियों यथा–चमार, जुलाहा, कुम्हार आदि को हेय व नीच मानकर उन्हें मंदिर में प्रवेश करने के अधिकार से भी वंचित कर रखा था, जबकि वे भी हिन्दू-समुदाय के ही महत्त्वपूर्ण अंग थे।

प्रत्येक समाज में नारी-जाति का भी अपना अलग महत्त्व होता है। भक्तिकालीन युग में भारतीय नारियों की दशा दयनीय थी। चूँकि भारतीय समाज पर शासन करने वाले मुस्लिम शासक विलासी एवं एय्याश प्रवृत्ति के थे, अतः वे अपनी भोग-विलास की तृप्ति के लिए हिन्दुओं की सुन्दर कन्याओं, युवतियों, नारियों को जबरदस्ती उठवा लेते थे। फलतः हिन्दू समाज अत्याचारी शासकों से भयाक्रांत था और पुत्रियों की अस्मिता की रक्षा के लिए हिन्दू समाज में बाल-विवाह का प्रचलन जोरों पर था। मध्यम वर्ग व निम्न वर्ग की युवतियाँ प्रायः घर की चार-दीवारी में कैद होकर रहती थीं। बाहर निकलने पर वे पर्दा करती थीं। इतना ही नहीं, पुरुष-प्रधान समाज के घरेलू वातावरण में भी नव-विवाहिताओं को परिवार के ज्येष्ठ पुरुष सदस्यों से पर्दा करना पड़ता था। चूँकि बाल-विवाह के कारण नारी शिक्षा से वंचित थी, अतः वह अपने अधिकारों के प्रति भी सजग नहीं थी। घर में नारियों विशेषकर विधवाओं की बड़ी शोचनीय दशा थी। संयुक्त परिवार की नारियों को पति की मृत्यु के उपरांत सम्पत्ति में कोई भाग अथवा हिस्सा नहीं मिलता था। दूसरी ओर, मुस्लिम संस्कृति व धर्म के कारण मुस्लिम समाज की नारियों की दशा में भी कोई विशेष अंतर नहीं था। हिन्दू समुदाय की युवतियाँ जहाँ पर्दा-प्रथा से ग्रस्त थीं, वहीं मुस्लिम समुदाय की नारियाँ बुर्का पहनकर घर से बाहर निकलती थीं। इस्लाम धर्म में पुरुष को चार पत्नियाँ रखने का अधिकार होने के कारण तत्कालीन युग में नारी केवल भोग-विलास की वस्तु मानी जाती थी। सुन्दरता तो मानो नारियों के लिए अभिशाप थी। जहाँगीर जैसे शासकों ने तो अन्य शासकों की केवल इसलिए हत्या की ताकि वे उसकी सुन्दर पत्नी के साथ अपने महल में भोग-विलास कर सकें।

तत्कालीन समाज मुख्यतः तीन वर्गों में बँटा था–शासक वर्ग, अधिकारी एवं कर्मचारी वर्ग तथा निम्न वर्ग। मुट्ठी-भर शासक वर्ग पूरे समाज पर अपना कठोर अंकुश लगाकर रखता था। उसके अधिकांश राजकीय अधिकारी व कर्मचारी मुसलमान होते थे जो सामान्य हिन्दू जनता पर मनमाना अत्याचार करते थे। हिन्दुओं को प्रताड़ित करने के लिए नए-नए प्रकार के कर अथवा टैक्स लगाए जाते थे। चूँकि भारत एक कृषि प्रधान देश रहा है, अतः यहाँ के किसान भी अत्याचारी शासकों एवं अधिकारियों के शोषण का शिकार थे।

यहाँ ध्यातव्य है कि भारत में जब-जब विदेशी मुसलमान आक्रमणकारियों ने आक्रमण किया, तब-तब साधारण जनता अथवा कृषक-वर्ग इनके बीच होने वाले युद्धों से उदासीन रहा। इसका मूल कारण यही था कि तत्कालीन समाज में साधारण जनता राजनीतिक क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकती थी। बार-बार बदलते शासकों व उनके बढ़ते अत्याचारों ने तत्कालीन समाज को राजनीति से विमुख कर दिया था। उनके लिए एक शासक साँपनाथ सिद्ध होता था तो दूसरा शासक नागनाथ।

अतः संक्षेप में कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन अधिकांश भारतीय समाज शासकों के अत्याचारों से पीड़ित था। उसकी राजनीतिक चेतना लुप्त हो चुकी थी। समाज में शिक्षा का प्रसार केवल कतिपय जातियों व परिवारों तक सीमित होकर रह गया था। फलतः अशिक्षा के कारण समाज में अन्धविश्वास, जादू-टोना आदि का प्रचलन था और नारियाँ अपने अधिकारों से वंचित थीं।

**3. सांस्कृतिक परिवेश**–भक्तिकाल से सैकड़ों वर्ष पहले ही भारत में वैदिक विधि से पूजा-पाठ, धर्मोपासना आदि का प्रचलन था। परन्तु कालांतर में इन विधियों में कर्मकाण्ड, बाह्याडम्बर, पाखंड आदि का समावेश हो गया। फलतः भारतीय संस्कृति, जोकि मानवोपयोगी परम्पराओं पर आधारित थी, वह अब दूषित परम्पराओं से युक्त हो गई। समाज में वर्गगत व जातिगत विभाजन अब कर्म के आधार पर न होकर जन्म के आधार पर किया जाने लगा। इस प्रकार ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने वाला कुटिल, कामी, व्यभिचारी, दुराचारी व्यक्ति भी समाज में विशेष सम्मान प्राप्त करता था, जबकि नीच जाति में उत्पन्न ईमानदार, सत्यप्रिय व हिन्दू-संस्कारों में आस्था रखने वाला व्यक्ति भी समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था।

Scanned with ACE Scanner

भारतीय संस्कृति में ईश्वर-प्राप्ति को ही जीवन का मुख्य ध्येय माना गया है और इसके लिए धर्म को ही सर्वोत्तम साधन माना गया है। भक्तिकाल में इस ध्येय की प्राप्ति के लिए अनेक दार्शनिकों, धार्मिक सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों आदि ने अपने-अपने मतानुसार धर्म-सम्प्रदायों का प्रवर्त्तन किया। इस युग में एक ओर जैन धर्म, बौद्ध धर्म आदि सम्प्रदायों के अनुयायी अपने सम्प्रदायों का अस्तित्व बचाए रखने के लिए प्रयास कर रहे थे तो दूसरी ओर वैष्णव सम्प्रदाय में राम-भक्त, कृष्ण-भक्त आदि जैसे विशेष सम्प्रदायों का भी प्रचलन आरम्भ हुआ। इस युग में कतिपय ऐसे संत भी आविर्भूत हुए जिन्होंने इन विभिन्न सम्प्रदायों की अच्छी परम्पराओं को ग्रहण कर निर्गुण-ब्रह्म की उपासना पर बल दिया। उनका यह क्रांतिकारी दृष्टिकोण निम्न जातियों के उन लोगों के लिए वरदान सिद्ध हुआ जिन्हें हिन्दू होने पर भी हिन्दू-मंदिर में प्रवेश नहीं करने दिया जाता था। ऐसे सन्त कवियों, धर्म-सम्प्रदायों के प्रवर्त्तकों में कबीरदास, गुरु नानक देव, रामानंद, तुकाराम आदि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इस प्रकार भक्तिकालीन युग में भारतीय समाज में हिन्दू समुदाय के लोगों की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्पराएँ थीं। विभिन्न जातियों, वर्गों में बँटे इस समुदाय के लोगों में समान धार्मिक भावना होते हुए भी उनमें सांस्कृतिक एकता नहीं थी। निम्न जाति या वर्ण के लोग अपने ही हिन्दू-समाज में उपेक्षित व तिरस्कृत थे तथा वे अमानवीय कार्यों के लिए ही नियुक्त किए जाते थे। इस प्रकार प्रत्येक जाति की अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक रीतियाँ प्रचलित थीं और इन जातियों के लोग प्रायः केवल सजातीय विवाह के ही पक्षधर थे। अतः दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि तत्कालीन हिन्दू समाज विभिन्न जातियों के छोटे-छोटे वर्गों में बँटा हुआ था और समाज में न केवल आर्थिक स्थिति के आधार पर बल्कि जातिगत आधार पर भी छुआ-छूत, ऊँच-नीच व अस्पृश्यता का भेद-भाव प्रचलित था। प्रत्येक वर्ग व जाति अपनी विशिष्ट परम्पराओं के कारण अपनी ही परिधि में सिमटी हुई थी।

भक्तिकालीन भारतीय समाज में दूसरा प्रमुख समुदाय इस्लाम धर्म से संबंधित था। अनेक मुस्लिम आक्रमणकारियों ने यहाँ आक्रमण करके भारत के विभिन्न राज्यों, क्षेत्रों पर अपना अधिकार जमा रखा था। यद्यपि मुट्ठी-भर मुसलमान ही भारत में प्रशासन व्यवस्था को सँभाले हुए थे, फिर भी मुस्लिम समुदाय के लोगों की अपनी सांस्कृतिक परम्पराएँ भी विशेष महत्त्वपूर्ण थीं। इस्लाम धर्म के उपासकों के लिए मुस्लिम शासकों ने अनेक हिन्दू मंदिरों को गिराकर मस्जिदों का निर्माण करवाया। यहाँ ध्यातव्य है कि मुस्लिम शासकों के होते हुए भी भक्तिकालीन युग में सामान्य मुसलमानों की दशा साधारण हिन्दुओं से भिन्न न थी। मुस्लिम समुदाय में भी अधिकांश स्त्रियाँ शिक्षा से वंचित तथा उपेक्षित थीं, फलतः अशिक्षा के कारण उनमें भी जादू-टोना, अंधविश्वास आदि का प्रचलन था। अधिकांश मुसलमान अपनी इस्लामी संस्कृति के अनुरूप ही कार्य करते थे। उदाहरण के लिए रोजा रखना, नमाज अता करना, फकीरों, संतों आदि की दरगाह पर प्रार्थना करना आदि।

उपर्युक्त विवेचन के उपरांत संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भक्तिकालीन भारतीय समाज में अधिकांश लोग अपनी-अपनी आस्था, संस्कृति व धर्म के अनुसार ही आचरण करते थे। इस काल में अधिकांश चित्रकारों, संगीतकारों आदि ने इस्लामी संस्कृति व ईरानी कला और भारतीय संस्कृति व कला के अनुरूप ही वास्तुकला, चित्रकला, संगीतकला आदि के क्षेत्र में अपना-अपना योगदान दिया।

**4. साहित्यिक परिवेश**–प्रायः प्रत्येक काल का साहित्यकार अपनी युगीन परिस्थितियों से अवश्य प्रभावित होता है। भक्तिकालीन युग में भी अधिकांश कवियों, साहित्यकारों आदि ने अपनी रचनाओं में अपनी युगीन परिस्थितियों का थोड़ा-बहुत चित्रांकन अवश्य किया है। चूँकि इस काल में समूचे भारत में भक्ति-आंदोलन की लहर चल रही थी, अतः ऐसी परिस्थितियों में इस काल के अधिकांश कवियों ने अपने धर्म, सम्प्रदाय आदि के अनुरूप ही ग्रंथों की अधिक रचना की है। यहाँ ध्यातव्य है कि इस युग में जहाँ फारसी भाषा ही राज-काज की भाषा के रूप में प्रचलित थी, वहीं अनेक भारतीय साहित्यकारों, कवियों आदि ने जन-भाषा में ही अपनी साहित्यिक कृतियों की रचना की है। इस युग में एक ओर सूरदास, नंददास आदि जैसे कवि भी हुए जिन्होंने ब्रजभाषा को अपनी काव्याभिव्यक्ति का आधार बनाया तो दूसरी ओर तुलसीदास, नाभादास आदि कवि भी हुए जिन्होंने अवधी भाषा में साहित्यिक ग्रंथों की रचना की। जहाँ तक इस युग के हिन्दी-साहित्य का प्रश्न है, तब इस संबंध में यही कहा जा सकता है कि इस युग के हिन्दी साहित्य में मुख्य रूप से चार प्रवृत्तियाँ दिखाई देती हैं। इस काल में एक ओर अनेक **संत कवियों** ने ऐसे काव्य की रचना की है जिसमें जीवन के सत्य, एकेश्वरवाद, धार्मिक पाखंडों आदि का विरोध, मानवतावादी दृष्टिकोण आदि को आधार बनाया गया है। ऐसे संत कवियों में **कबीरदास, गुरु नानक देव, रैदास** आदि प्रमुख हैं। भक्तिकालीन हिन्दी साहित्य की दूसरी प्रमुख प्रवृत्ति प्रेमाख्यान है। ऐसे प्रेमाख्यान काव्य में अनेक सूफी कवियों व हिन्दू कवियों ने लौकिक प्रेम के माध्यम से अलौकिक प्रेम की महत्ता का प्रतिपादन किया है और अधिकांश आलोचकों ने इस काव्य को सूफी-काव्य अथवा प्रेमाख्यान काव्य ही कहा है। आचार्य शुक्ल जैसे विद्वान ने इस प्रेमाख्यान काव्य को **मसनवी शैली** पर आधारित माना है परन्तु उनका यह मत अब

Scanned with ACE Scanner

## मध्यकालीन 'भक्ति-आंदोलन' पर एक सारगर्भित लेख लिखिए।

**उत्तर–भक्ति आंदोलन**–हिन्दी साहित्य के इतिहास में संवत् 1375 से संवत् 1700 तक के युग को 'भक्तिकाल' का नाम दिया गया है। परन्तु भारत में आरम्भ से ही धर्म-साधना की तीन प्रणालियाँ–ज्ञान योग, कर्म योग तथा भक्ति योग प्रचलित रही हैं। इन तीनों प्रणालियों में परस्पर गहरा सम्बन्ध है तथा वे परस्पर एक-दूसरे की पूरक भी हैं। भक्ति आन्दोलन के स्वरूप व कारणों को जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि भक्ति क्या है?

**पूजादिष्वानुराग इति पाराशर्यः।** – **व्यासमुनि**

(पूजा आदि में प्रगाढ़ प्रेम होना ही भक्ति है।)

**सा परानुरक्तिरीश्वरे।** – **शाण्डिल्य भक्ति सूत्र**

(ईश्वर में परम अनुरक्ति का नाम ही भक्ति है।)

**स्नेहपूर्वकमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः।** – **स्वामी रामानुजाचार्य**

(ईश्वर का स्नेहपूर्वक किया गया ध्यान ही भक्ति है।) – **आचार्य शुक्ल**

**'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।'**

इन परिभाषाओं से यह बात स्पष्ट है कि अनन्य भाव से भगवान की शरणागति, अहेतुक प्रेम और बिना शर्त आत्म-समर्पण–ये बातें भक्ति के लिए आवश्यक हैं। वस्तुतः मनुष्य के मन में ईश्वर के प्रति निर्मल प्रेम व समर्पण की भावना ही भक्ति है। इस भावना के प्रवाह से भक्त न केवल स्वयं आनन्दित होता है, बल्कि वह दूसरों को भी आनन्दित करता है।

भारत में भक्ति कोई नई बात नहीं है अर्थात् हमें यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि भक्ति-आन्दोलन से ही भारत में भक्ति की लहर आई। वास्तव में भारतीय समाज में भक्ति की जड़ें बहुत गहरी हैं। वेदों से ही भक्ति का मूल उद्गम दिखाई

Scanned with ACE Scanner

देता है। तब वैदिक ऋषियों ने अग्नि, वायु, सूर्य आदि को देवता मानकर उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना प्रकट की तथा ऋचाएँ लिखीं। उसके बाद उपनिषद्-साहित्य आता है जिसमें ब्रह्म के निर्गुण रूप की विवेचना की गई है तथा उसमें ज्ञान तत्त्व व योग तत्त्व का समावेश किया गया है। उसके बाद महाभारत का क्रम आता है जिसमें विष्णु को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है। 'महाभारत' की रचना तक भारत में वैष्णव भक्ति का पूरा विकास हो चुका था। उसके बाद पुराण साहित्य तो मानो केवल भक्ति के विविध रूपों, पद्धतियों आदि के लिए ही रचा गया है। अतः हिन्दी साहित्य में जिस युग को हम भक्तिकाल कहते हैं उससे लगभग हजारों साल पहले ही भक्ति का प्रतिपादन हो चुका था।

परन्तु इस बीच में बौद्ध धर्म व जैन धर्म का न केवल विस्तार हुआ, बल्कि इन धर्मों ने भक्ति-मार्ग की अनेक पद्धतियों पर कुठाराघात भी किया। फलतः लगभग छठी-सातवीं शताब्दी के आस-पास भक्ति का प्रवाह अत्यंत क्षीण पड़ गया। ऐसी दशा में दक्षिण-भारत में भक्ति का नया सोता फूटा और धीरे-धीरे इस नए प्रवाह ने लगभग पूरे भारत को अपनी चपेट में लिया। भक्ति का यही अजस्र प्रवाह ही 'भक्ति आन्दोलन' कहलाता है।

## भक्ति आन्दोलन के सामाजिक कारण

भारत में भक्ति आन्दोलन के उदय के कई कारण हैं। सबसे पहले सामाजिक कारणों पर विचार किया जा रहा है। भक्ति आन्दोलन के पूर्व मुसलमानों के आगमन से भारतीय समाज दो वर्गों में बँटा हुआ था। एक बड़ा वर्ग हिन्दुओं का था जो कि मुसलमानों द्वारा शासित था, दूसरा वर्ग मुसलमानों का था जो अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्नशील थे। इस प्रकार ये दोनों वर्ग भिन्न विचारों से प्रेरित थे। हिन्दू समाज में वर्ण-व्यवस्था थी। परन्तु ब्राह्मण वर्ग ने स्वयं को इतना श्रेष्ठ सिद्ध कर लिया था कि वे दूसरे हिन्दुओं विशेषतः शूद्रों से अपमानजनक व्यवहार करते थे। वैसे भी हिन्दू समाज में जातियों, उपजातियों की संख्या दिनों-दिन बढ़ रही थी, जिससे उनमें प्रेम, एकता व पारस्परिक संबंध का अभाव होता जा रहा था। एक जाति स्वयं को दूसरी जाति से श्रेष्ठ समझती थी। ऐसी दशा में नीच समझी जाने वाली जातियाँ अपने-आपको अपमानित अनुभव करती थीं। चूँकि ब्राह्मणों को उनकी शिक्षा आदि के बल पर दरबारों में स्थान प्राप्त हो जाता था, इसीलिए ऐसे दुर्लभ अवसर का अनुचित लाभ उठाते हुए उन्होंने ऐसे कठोर विधानों का प्रावधान किया जिससे शूद्रों का जीवन दूभर होता गया। उन्हें शिक्षा प्राप्त करने के अधिकार से वंचित किया गया। वे मंदिरों में प्रवेश नहीं कर सकते थे। दूसरी ओर, शासकों द्वारा बेगार लेने की प्रथा का सबसे बुरा प्रभाव इन्हीं शूद्रों पर पड़ता था।

मुस्लिम समाज की भी दशा में भी कोई विशेष अन्तर न था। केवल मुट्ठी-भर मुसलमान ही शासन-व्यवस्था से जुड़े थे। साधारण मुसलमान भी हिन्दू की तरह अपमानित, प्रताड़ित और निर्धन था। शासक वर्ग ने अपनी भोग-विलासिता के लिए जन-साधारण पर अनेक प्रकार के कर लगा रखे थे। फलतः सामान्य हिन्दू परिवार को भरपेट भोजन तक नहीं मिलता था। किसानों एवं मजदूरों की दशा तो और भी दयनीय थी। उस समाज में वही मनुष्य सुखी था जिसके पास न जमीन थी, न सन्तान थी और न पत्नी थी। अपने कर चुकाने के लिए लोगों को अपनी जमा-पूँजी देनी पड़ती थी। उसके अभाव में वह अपनी जमीन, अपने मकान आदि से हाथ धो बैठता था। रोजगार के अवसर सीमित हो चले थे। केवल चाटुकारों को ही शाही नौकरियाँ मिलती थीं। फलतः शासन-व्यवस्था अयोग्य लोगों के हाथ में चली गई थी।

इन सभी कारणों से जन-साधारण के मन में निराशा, त्रास, भय आदि का समावेश हो चुका था। उन्हें अपने चारों ओर अंधेरा-ही-अंधेरा दिखाई देता था। ऐसी दशा में जब दक्षिण भारत से भक्ति आन्दोलन की लहर चली तो इस जन-साधारण को मानो एक नई चेतना मिल गई। उन्हें अपनी निराशा, कुंठा आदि को मन से निकालने का एक अवसर मिल गया। अतः यहाँ पर स्पष्ट हो जाता है कि भक्ति-आन्दोलन के प्रचार-प्रसार में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों ने मुख्य भूमिका निभाई।

## भक्ति आन्दोलन के सांस्कृतिक कारण

जहाँ तक सांस्कृतिक कारणों का प्रश्न है, इस संदर्भ में भी यही कहा जाएगा कि तत्कालीन युग में अधिकांश सांस्कृतिक परम्पराएँ दूषित हो चुकी थीं। धर्म के क्षेत्र में बौद्ध धर्म व जैन धर्म में बढ़ते जादू-टोने, जन्त्र-मन्त्र आदि के कारण इनका स्वरूप विकृत हो चुका था। बौद्ध अनुयायियों ने योग-साधना में मद्यपान, नारी-भोग जैसी कुरीतियों को भी एक अनिवार्य अंग मान लिया। ये दोनों धर्म, जो कि वैदिक धर्म के कर्मकाण्ड, बाह्याचार के विरोध में उठ खड़े हुए थे, स्वयं कुरीतियों के शिकार हो गए थे। इसी ओर, शूद्रों की विवशता का लाभ उठाकर उन्हें प्रलोभन से या बलात् मुसलमान बनाने का प्रयास भी चल रहा था। इस्लाम और

Scanned with ACE Scanner

की इसी कट्टरता के कारण सूफी मत का आगमन हुआ। समाज में बाल-विवाह, बहु-पत्नी प्रथा, विधवा-पुनर्विवाह पर रोक जैसी कुरीतियों के कारण समाज में नारी की दशा अत्यन्त शोचनीय थी। वह केवल भोग-विलास की वस्तु मानी जाती थी। मुसलमान शासकों की भोग-विलास की प्रवृत्ति व उनकी शक्ति को देखते हुए हिन्दू स्त्रियों को पर्दा-प्रथा अपनानी पड़ी।

अतः जब सामाजिक परिस्थितियाँ खराब हो चुकी हों, सांस्कृतिक परम्पराएँ कुरीतियों का गढ़ बन चुकी हों; ऐसी दशा में यदि जन-साधारण को किसी सन्त या भक्त का आलम्बन मिल जाए, तो वह निश्चय ही ऐसी दलदल से निकलने के लिए उसका सहारा लेगा। यही स्थिति भक्ति आन्दोलन के प्रचार-प्रसार के समय थी।

### *भक्ति आन्दोलन के कारणों पर विभिन्न विद्वानों के मत*

क्या भारत में भक्ति आन्दोलन के प्रवर्त्तन के लिए मुसलमानों के अत्याचार, शोषण आदि को उत्तरदायी ठहराया जा सकता है? इस प्रश्न पर विभिन्न विद्वानों ने अपने अलग-अलग मत प्रस्तुत किए हैं–

**डॉ. मलिक मुहम्मद** ने दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के उद्भव के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है, **"शैवों और वैष्णवों ने मिलकर जैन और बौद्धों का बड़ा विरोध किया। उससे तमिल प्रदेश में जैन व बौद्ध धर्म की नींवें हिलने लगीं और नौवीं शताब्दी तक आते-आते इन दोनों वास्तविक धर्मों की शक्ति क्षीण हो गई।"** इस प्रकार **डॉ. मलिक मुहम्मद** ने दक्षिण भारत में भक्ति आन्दोलन के उद्भव का कारण जैन व बौद्ध धर्म के अनुयायियों द्वारा अपनाए गए बाह्याचार, पाखंड आदि को माना है। उन्होंने यह भी कहा है कि तत्कालीन युग में इन दोनों धर्मों के अनुयायियों को दरबार में आश्रय प्राप्त था। उन्होंने वैष्णवों व शैवों पर अत्याचार भी किए थे। फलतः शैवों व वैष्णवों ने जन-साधारण के साथ मिलकर भक्ति आन्दोलन का प्रवर्त्तन किया।

**आचार्य शुक्ल** ने भक्ति आन्दोलन के उदय का कारण मुसलमानों के अत्याचारों को माना है। वे कहते हैं, **"देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिन्दू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके मंदिर गिराये जाते थे, देव मूर्तियाँ तोड़ी जाती थीं और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ नहीं कर सकते थे। ऐसी स्थिति में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। आगे चलकर जब मुस्लिम साम्राज्य दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतन्त्र राज्य भी नहीं रह गये। इतने भारी राजनीतिक उलट-फेर के नीचे हिन्दू जनता पर उदासी छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"**

इस प्रकार आचार्य शुक्ल ने इस धारणा को स्पष्ट किया है कि यदि मुसलमान भारत में न आते तो भक्ति आन्दोलन का भी उदय नहीं होता। परन्तु उनकी इस धारणा में एक कमी यह भी दिखाई देती है कि हिन्दू समाज में सवर्णों द्वारा शूद्रों पर किए जाने वाले अत्याचार से भी उन शूद्रों में उदासी छाई हुई थी। भक्तिकाल के अधिकांश संत कवि जैसे कबीर, रैदास आदि इन्हीं नीच जातियों से सम्बन्धित थे। दक्षिण-भारत के आलवार संतों में भी अधिकांश संत इन्हीं नीच जातियों से सम्बन्धित थे।

**आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी** ने अपने ग्रंथ 'हिन्दी साहित्य का उद्भव व विकास' में आचार्य शुक्ल के इस मत का खण्डन किया है। वे लिखते हैं–**"यह बात अत्यन्त उपहासास्पद है कि जब मुसलमान लोग उत्तर भारत के मंदिर तोड़ रहे थे तो उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावधारा को उमड़ना था तो पहले उसे सिन्ध में, फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर प्रकट हुई वह दक्षिण में।"**

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अतिरिक्त श्री बाल गंगाधर तिलक, श्री कृष्ण स्वामी आयंगर, डॉ. एच० राय चौधरी आदि ने भी आचार्य शुक्ल के इस मत का विरोध किया है तथा कहा है कि भारत में भक्ति-भावना का उदय पूर्ण रूप से भारतीय है। यह किसी विदेशी प्रभाव या हारी हुई मनोवृत्ति का परिणाम नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में भक्ति आन्दोलन किसी पौरुष से हताश जाति की मनोवृत्तियों का परिणाम नहीं है, बल्कि यह तो एक सुव्यवस्थित दीर्घ परम्परा है। जार्ज ग्रियर्सन ने जिस घटना (भक्ति आन्दोलन) को अचानक बिजली के समान फैल जाना बताया है, उसके लिए तो सैकड़ों वर्षों से मेघखण्ड एकत्र हो रहे थे। दक्षिण भारत में सातवीं शती व इससे पूर्व ही वैष्णव भक्ति ने जोर पकड़ना आरम्भ कर दिया था। इसमें दक्षिण भारत के आलवार भक्तों, जिनकी संख्या बारह थी, ने अपने क्षेत्र में वैष्णव भक्ति का प्रतिपादन किया। उन्होंने व नायनमारों ने भक्ति आन्दोलन को आगे बढ़ाने में विशेष योगदान दिया।

Scanned with ACE Scanner

**भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग क्यों कहा जाता है? युक्तियुक्त सोदाहरण उत्तर दीजिए।**

**उत्तर–भक्तिकाल : हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग**–विद्वानों ने भक्तिकाल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा है। उनका कथन है कि भक्तिकालीन साहित्य अपने पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य से निश्चित रूप में श्रेष्ठ है। उनका तर्क यह है कि भक्तिकाल से पूर्व आदिकाल में वीर रस प्रधान तथा शृंगार रस प्रधान काव्य की रचना की गई। इस युग के सभी चारण कवि दरबारी कवि थे। वे लोग अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने में संलग्न थे। पुनः इस युग का साहित्य प्रामाणिक भी नहीं माना जाता। जहाँ तक जैन, सिद्ध, नाथ कवियों का प्रश्न है, उन्होंने केवल धार्मिक रचनाएँ लिखी हैं। ये तीनों सम्प्रदाय अपने-अपने धर्म का प्रचार करने में संलग्न थे। परवर्ती रीतिकालीन साहित्य भी दरबारी कवियों और शृंगारी कवियों का युग कहा जा सकता है। रीतिकाल के बाद आधुनिक काल का साहित्य विभिन्न विधाओं के लिए प्रसिद्ध है परन्तु भाव प्रवणता की दृष्टि से आधुनिक काल का साहित्य भक्तिकाल के साहित्य से बहुत पीछे रह गया है। भक्तिकाल में निम्नलिखित काव्यधाराओं का परिचय प्राप्त करना आवश्यक होगा–

**भक्तिकाल (सम्वत् 1375 से सम्वत् 1700)**

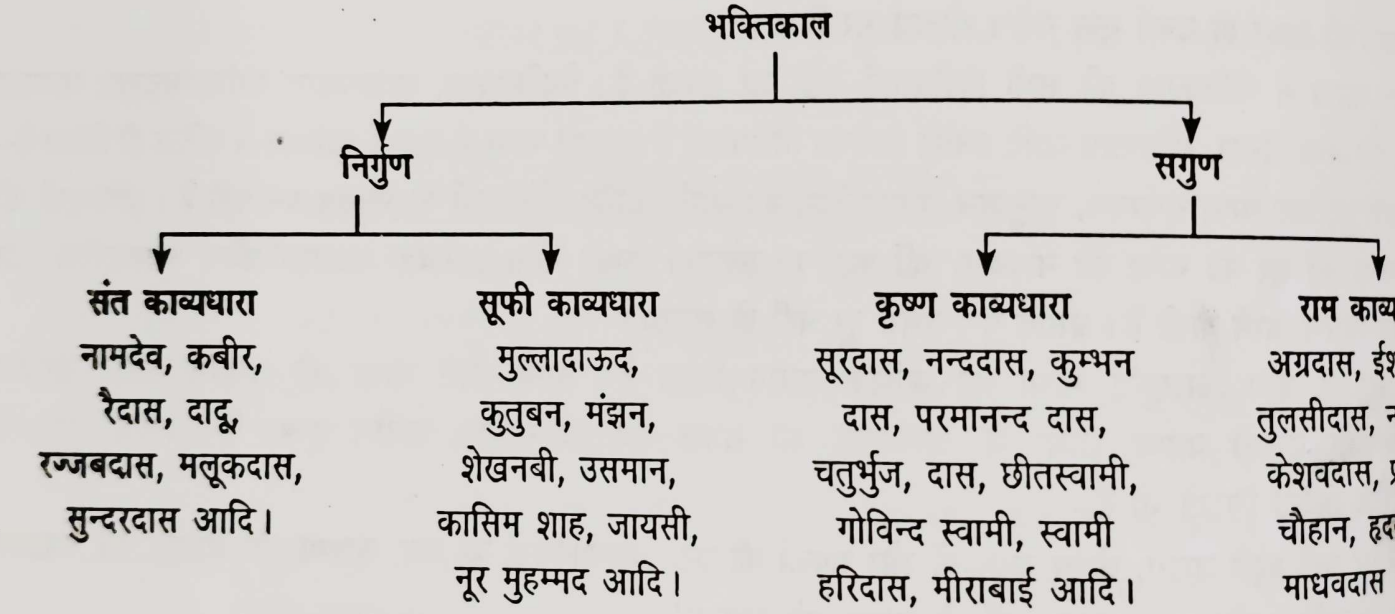


उपर्युक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तिकाल का समय संवत् 1375 से संवत् 1700 के मध्य माना गया है। इस युग का साहित्य धार्मिक होने के साथ-साथ सामाजिक और सांस्कृतिक भी है। भक्तिकालीन निर्गुण काव्यधारा के अन्तर्गत सूफी प्रेमाख्यानक तथा संत काव्यधारा का उल्लेख किया जा सकता है। निर्गुण संत काव्यधारा में निर्गुण-निराकार ईश्वर की भक्ति को स्वीकार किया गया है। कबीरदास इस काव्यधारा के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जा सकते हैं। अन्य कवियों में गुरु नानक देव, नामदेव, रैदास, रज्जबदास, दादू दयाल आदि का उल्लेख किया जा सकता है। सूफी प्रेमाख्यानक काव्यधारा के कवियों ने निर्गुण-निराकार ईश्वर को मानते हुए भी विशुद्ध प्रेम तत्त्व पर अधिक बल दिया। इन्होंने लौकिक प्रेम के द्वारा अलौकिक प्रेम को प्राप्त करने की वकालत की। कुतुबन, मंझन, मुल्ला दाऊद, शेखनबी, उसमान, कासिम, जायसी आदि इस काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इनमें मलिक मुहम्मद जायसी हिन्दी साहित्य के एक महान् कवि माने जा सकते हैं। पद्मावत उनकी कीर्ति का आधार-स्तम्भ है। सगुण भक्ति के अन्तर्गत कृष्ण काव्यधारा और राम काव्यधारा की चर्चा की जाती है। कृष्ण काव्यधारा में भगवान कृष्ण की लीलाओं के साथ-साथ माधुर्य भाव की भक्ति पर बल दिया गया है। अष्टछाप के सभी कवि इस काव्यधारा के उल्लेखनीय कवि हैं। सूरदास, नंददास, चतुर्भुज दास, परमानन्द दास, कुम्भन दास, गोविन्द स्वामी, छीतस्वामी आदि अष्टछापी कवि हैं। इनका सम्बन्ध वल्लभाचार्य द्वारा परिवर्तित पुष्टि मार्ग से है। सूरदास इस काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं। इस काव्यधारा में श्रीराम को

Scanned with ACE Scanner

पुरुषोत्तम सिद्ध करते हुए उनकी शील, शक्ति और सौन्दर्य का सुन्दर वर्णन किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास, केशवदास, नाभादास, अग्रदास आदि इस काव्यधारा के प्रमुख कवि हैं, लेकिन इनमें गोस्वामी तुलसीदास सर्वश्रेष्ठ कवि कहे जा सकते हैं। 'रामचरितमानस' उनका सुप्रसिद्ध काव्य है।

### भक्तिकाल को स्वर्ण युग मानने के कारण

भक्तिकाल के सभी भक्त कवियों ने जिस साहित्य की रचना की वह आज भी जनमानस का कण्ठहार कहा जा सकता है। कबीरदास के दोहे अनेक लोगों को याद हैं। जायसी का पद्मावत न केवल सूफी काव्य का, बल्कि हिन्दी साहित्य का महान् काव्य है। इसी प्रकार कृष्ण कवि 'सूरदास' का सूरसागर एक महान् काव्य रचना है जिसमें कवि ने श्रीकृष्ण की लीलाओं के साथ-साथ माधुर्य भाव की भक्ति, वात्सल्य वर्णन, दास्य भाव की भक्ति आदि का प्रतिपादन किया है। रामकाव्य में गोस्वामी तुलसीदास द्व रा रचित रामचरितमानस को 'उत्तर भारत की बाइबिल' कहा गया है। शायद ही ऐसा कोई हिन्दू परिवार हो जिसमें इस ग्रंथ का परायण न किया जाता हो। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने भक्तिकाल को स्वर्ण युग स्वीकार करते हुए लिखा है–**"जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे प्रसिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी अनेक अन्तःकरणों से निकलकर देश के कोने-कोने में फैली थी उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्ति युग कहते हैं। निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था।"** वे पुनः लिखते हैं–**"हिन्दी काव्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाए तो जो बचेगा वह इतना हल्का होगा कि हम उस पर किसी प्रकार गर्व न कर सकेंगे। लगभग 200 वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर प्रान्तीय साहित्यों के ऊपर उठाए हुए हैं। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हित हरिवंश, कबीर इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे पास ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी भारती के कण्ठमाल हैं।"** आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार–**"समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। यह काव्य जहाँ उच्चतम धर्म की व्याख्या करता है, वहाँ उसमें उच्चकोटि के भी दर्शन होते हैं। इस काव्यधारा की आत्मा भक्ति है, इसका जीवन स्रोत रस है। यह काव्यधारा एक साथ हृदय, मन और आत्मा की भूख को शान्त करती है।"** कुछ अन्य आलोचकों ने भी यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ काल है। विशेषकर कबीरदास ने भले ही खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति को अपनाया हो। लेकिन उन्होंने हिन्दू-मुसलमानों दोनों की जड़ कुरीतियों पर प्रहार किया। वे एक क्रान्तिकारी कवि कहे जा सकते हैं जिन्होंने समाज को निर्मल और स्वच्छ बनाने पर बल दिया। इसी प्रकार कविवर जायसी ने हिन्दुओं और मुसलमानों के अजनबीपन को दूर करने की कोशिश की और दोनों सम्प्रदायों में सामाजिक और धार्मिक सौहार्द उत्पन्न करने का प्रयास किया। इसी प्रकार तुलसीदास ने समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपनाते हुए विभिन्न धर्मों को जोड़ने का प्रयास किया। यही कारण है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुन्दर दास, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा डॉ. नगेन्द्र जैसे आलोचकों ने इसे सर्वश्रेष्ठ काव्य घोषित किया है। निम्नलिखित कारणों से भक्तिकाल को स्वर्णयुग सिद्ध किया जा सकता है–

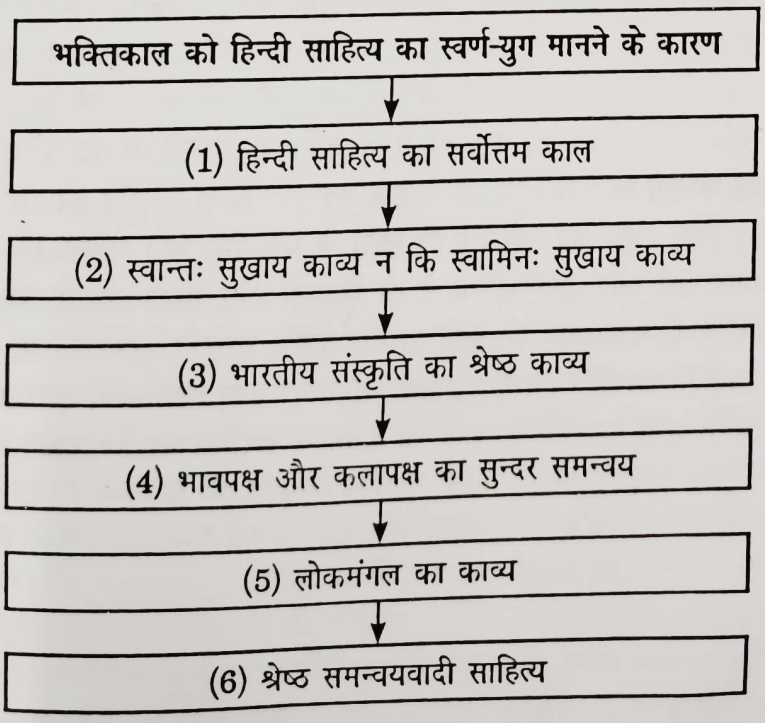


Scanned with ACE Scanner

**1. हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम काल**–भक्तिकाल हिन्दी साहित्य का सर्वोत्तम काल है। इस युग में उच्चकोटि के साहित्य का निर्माण हुआ। जिस प्रकार शेक्सपीयर इंग्लैण्ड का महान् कवि माना जाता है उसी प्रकार भारत में सूर, तुलसी, जायसी और कबीर को सर्वाधिक सम्मान दिया जाता है। इन कवियों के द्वारा रचित साहित्य हिन्दी कवियों की अक्षय निधि कही जा सकती है। इस युग में हिन्दी काव्य का चतुर्मुखी विकास हुआ। इस काव्य में जहाँ एक ओर समन्वयवाद और भारतीय संस्कृति पर प्रकाश डाला गया है वहाँ दूसरी ओर सामाजिक वातावरण पर भी प्रकाश डाला गया है। कलापक्ष की दृष्टि से भी यह सर्वोत्तम काव्य कहा जा सकता है। यह साहित्य काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण, काव्य सौष्ठव, भाव पक्ष, कलापक्ष, लोकमंगल, समृद्ध भाषा आदि सभी दृष्टियों से सर्वोत्तम माना गया है। यह काव्य धर्म की उच्चतम व्याख्या करता है और पाठक में उदात्त भावों को उत्पन्न करता है। इस साहित्य का सम्बन्ध देश की सभ्यता और संस्कृति से है। इसके साथ-साथ इस साहित्य ने सामान्य जन-जीवन के सुख-दुःख, उनके धार्मिक, सामाजिक तथा पारिवारिक पक्षों पर भी समुचित प्रकाश डाला है। इस सन्दर्भ में **डॉ. गंगा प्रसाद पांडेय** ने उचित ही लिखा है–**"यदि भक्तिकाल को ही साहित्य मान लिया जाए तो यह काल हिन्दी साहित्य का तथा सारे विश्व साहित्य का निश्चय ही स्वर्ण युग है।"** यह साहित्य हमारे मन और हृदय की प्यास को शान्त करता है तथा हमें सुख प्रदान करता है।

**2. स्वान्तः सुखाय काव्य, न कि स्वामिनः सुखाय काव्य**–पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि आदिकालीन चारण कवि दरबारी कवि थे और वे अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के लिए शृंगार रस प्रधान तथा वीर रस प्रधान काव्य की रचना कर रहे थे। इसी प्रकार रीतिकाल के कवि दरबारी कवि होने के कारण शृंगार की छीछालेदर कर रहे थे। दोनों युगों का साहित्य स्थायी साहित्य नहीं कहा जा सकता लेकिन भक्तिकालीन का साहित्य शाश्वत साहित्य है। जहाँ पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों ने 'स्वामिनः सुखाय' काव्य रचना की, वहाँ भक्तिकालीन कवियों ने स्वान्तः सुखाय काव्य रचना की। गोस्वामी तुलसीदास लिखते भी हैं–**'स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाता।'**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि उनका काव्य उनकी हृदयगत भावनाओं की अभिव्यक्ति करता है। चाहे कबीर हो, रैदास या गुरुनानक देव अथवा सूरदास, इन सब कवियों ने अपनी हृदयगत भावनाओं का सहज और सरल वर्णन किया है। भले ही सूफी प्रेमाख्यानक कवियों पर कुछ कवियों ने साम्प्रदायिकता का आरोप लगाया हो परन्तु उन कवियों का सम्पूर्ण वर्णन भी स्वान्तः सुखाय है। इन कवियों ने भारतीय लोक कथाओं को लेकर जो प्रेम काव्य का वर्णन किया है वह बड़ा ही रोचक और हृदयाकर्षक बन पड़ा है। इस संदर्भ में **डॉ. शिवकुमार शर्मा** ने लिखा भी है–**"भक्तिकाल के साहित्य का कविता सम्बन्धी दृष्टिकोण अत्यन्त उदात्त है। उसने अपनी वाणी का उपयोग प्राकृत जन गुणगान के लिए नहीं किया। इनका काव्य आदिकाल और रीतिकाल के कवियों के समान राज्याश्रय में पल्लवित और पुष्पित नहीं हुआ, बल्कि आत्म प्रेरणा का फल है। अतः यह स्वामिनः सुखाय न होकर स्वान्तः सुखाय अर्थात् सर्वान्तः सुखाय सिद्ध हुआ।"**

**3. भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठ काव्य**–भक्तिकालीन साहित्य भारतीय संस्कृति और आचार-विचार का प्रचार-प्रसार करने में सफल हुआ है। भक्तिकाव्य के प्रारम्भ से ही उत्तर भारत मुस्लिम शासकों के अधीन हो चुका था। तत्कालीन मुस्लिम शासक एक ओर तो इस्लाम धर्म का प्रचार कर रहे थे दूसरी ओर हिन्दू धर्म और संस्कृति को नष्ट करने का प्रयास भी कर रहे थे। भले ही आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानों ने भक्ति आन्दोलन को पराजित हिन्दू जाति की प्रतिक्रिया का परिणाम कहा हो, परन्तु तत्कालीन सन्त कवियों, सूफी कवियों, कृष्ण कवियों तथा राम कवियों ने एक बार पुनः हिन्दू संस्कृति की रक्षा करने का आन्दोलन चलाया। सच्चाई तो यह है कि उस समय हिन्दू जाति का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया था। भक्तिकालीन कवियों ने भारतीय संस्कृति और धर्म की सही अर्थों में व्याख्या की और कुछ कवियों ने तो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई को भी पाटने का प्रयास किया। भक्तिकाल के साहित्य के फलस्वरूप ही आज भारतीय दर्शन, संस्कृति, सभ्यता तथा आचार-विचार सुरक्षित हैं। इस युग की उल्लेखनीय काव्य रचनाओं में रामचरितमानस, पद्मावत, सूरसागर तथा कबीर की वाणी का महत्त्वपूर्ण योगदान कहा जा सकता है। उत्तर भारत में रामचरितमानस का वही स्थान है जो यूरोप में बाइबिल का है। कबीर आदि सन्त कवियों ने न केवल सामाजिक रूढ़ियों और आडम्बरों का उन्मूलन किया, बल्कि भारतीय संस्कृति की खामियों को दूर करने का प्रयास किया। इसके साथ-साथ सूफी प्रेमाख्यानक कवियों ने भारतीय लोक-जीवन और संस्कृति को एक नवीन दिशा प्रदान की। यह कहना अनुचित न होगा कि भक्तिकालीन साहित्य ने भारतीय संस्कृति को पुनर्जीवित किया।

इसके साथ-साथ भक्तिकालीन साहित्य श्रेष्ठ धार्मिक साहित्य भी कहा जा सकता है। इस काल में धार्मिक साहित्य के साथ-साथ लोक-जीवन का भी मणिकांचन प्रयोग किया गया है। रामचरितमानस एक आदर्श मानव समाज की रचना प्रस्तुत करता है। तुलसीदास द्वारा प्रतिपादित राम राज्य की कल्पना किसी भी युग के लिए अनुकरणीय है। कबीर, दादू, रैदास, गुरु नानक देव

Scanned with ACE Scanner

आदि भले ही अधिक शिक्षित नहीं थे परन्तु इन सभी कवियों ने निर्गुण ब्रह्म और आत्मा की जो व्याख्या की है वह बेमिसाल है। इसी प्रकार सूरदास आदि अष्टछाप कवियों ने कृष्ण लीलाओं का जो मनोरम चित्र अंकित किया है वह भक्तों के लिए ग्राह्य है। भक्तिकालीन साहित्य को पढ़कर एक सामान्य पाठक भी मन की शान्ति प्राप्त करता है।

**4. भावपक्ष और कलापक्ष का सुन्दर समन्वय**–भक्तिकाल के साहित्य में साहित्य के भावपक्ष और कलापक्ष का समन्वय हुआ है। कबीर एक अनपढ़ कवि थे लेकिन उनकी भावना और अनुभूति को देखकर हैरानी होती है, इसके साथ-साथ उनका अभिव्यंजन शिल्प भी प्रशंसनीय है। सूर, तुलसी, जायसी, नन्ददास आदि कवियों के काव्य में भी भावपक्ष और कलापक्ष का सुन्दर समन्वय हुआ है। इन कवियों के काव्य में जहाँ एक ओर सरस अभिव्यक्ति देखी जा सकती है वहीं दूसरी ओर सहज वाग्विदग्धता भी देखी जा सकती है। एक ओर जहाँ कबीर ने जनसाधारण की भाषा का प्रयोग किया, वहीं दूसरी ओर तुलसीदास ने साहित्यिक अवधी तथा ब्रजभाषा का प्रयोग किया। इसी प्रकार सूरदास, नन्ददास आदि अष्टछाप कवियों ने ब्रजभाषा को साहित्यिक रूप प्रदान किया। भाषा, छन्द, अलंकार, काव्य-शैली आदि कला पक्ष के सभी उपकरण उन काव्य रचनाओं में विद्यमान हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि इस युग में प्रबन्ध, मुक्तक, गीति काव्य, सूक्ति काव्य, नीति काव्य, कथा काव्य आदि सभी काव्य रूपों पर काव्य रचनाएँ लिखी गईं। इस दृष्टि से भक्तिकालीन काव्य न केवल शाश्वत काव्य है बल्कि विश्वजनीन काव्य भी है। आधुनिक काल में गद्य की विभिन्न विधाओं का समुचित विकास हुआ है परन्तु भक्तिकाल तक गद्य का समुचित विकास ही नहीं हुआ था। इसीलिए भक्तिकालीन कवियों से यह आशा ही नहीं की जा सकती कि वे श्रेष्ठ गद्य का निर्माण करते।

**5. लोकमंगल का काव्य**–सूरदास को यदि छोड़ दें तो भक्तिकाल के सभी कवियों ने अपनी काव्य रचनाओं में लोकमंगल और लोक कल्याण पर अधिक बल दिया है। आचार्य शुक्ल ने इस काल के सभी कवियों को भक्त कवि, समाज सुधारक और लोक नायक कहा है। विशेषकर कबीरदास ने एक समाज सुधारक की भूमिका निभाते हुए समाज की कुरीतियों और जड़ परम्पराओं पर प्रहार किया। गोस्वामी तुलसीदास सच्चे लोकनायक कहे जा सकते हैं। उनका काव्य गंगा के समान पावन है और सबका कल्याण करने में समर्थ है। मलिक मुहम्मद जायसी ने तत्कालीन लोकजीवन, पर्वों, त्योहारों, शादी-विवाह, पारिवारिक जीवन आदि पर बड़ा ही प्रभावशाली प्रकाश डाला है। सूर आदि कवियों ने कृष्ण के लोकरंजक रूप का जो वर्णन किया है वह अद्वितीय बन पड़ा है। इन कवियों ने मृतः प्राय भारतवासियों को नया जीवन दिया और उनमें आशा का संचार किया। यदि साहित्य एक ओर परलोक की ओर संकेत करता है तो दूसरी ओर लोक कल्याण पर भी अधिक बल देता है। कबीरदास ने हिन्दुओं और मुसलमानों दोनों की रूढ़ियों और आडम्बरों का डटकर विरोध किया। यदि कबीर का स्वर खण्डनात्मक था तो जायसी का स्वर मण्डनात्मक था। गोस्वामी तुलसीदास ने तत्कालीन समाज की विषमताओं और समस्याओं पर समुचित प्रकाश डाला। तुलसीदास ने स्वीकार किया कि मुगल दरबार चाटुकारों से भरा हुआ था। शासन व्यवस्था अयोग्य हाथों में चली गई थी। आम जनता चाहे हिन्दू या मुसलमान बेरोजगारी का शिकार बनी हुई थीं **कवितावली** में कवि लिखता भी है–

**"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,**
**बनिक को न बनिज, चाकर को न चाकरी।**
**जीविका विहीन लोग सीधमान सोच बस,**
**कहें एक एकन सौं कहाँ जाई, का करी?"**

यही नहीं, तुलसीदास ने तत्कालीन शैवों, शाक्तों, निर्गुणवादियों, सगुणवादियों तथा वैष्णवों में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। परोपकार की भावना का समर्थन करते हुए वे लिखते हैं–

**'परहित सरिस धर्म नहिं भाई'**

**6. श्रेष्ठ समन्वयवादी साहित्य**–भक्तिकालीन साहित्य केवल धार्मिक साहित्य नहीं है, बल्कि श्रेष्ठ समन्वयवादी साहित्य भी कहा जाता है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि तत्कालीन मुगल शासकों में धार्मिक कट्टरता थी। मुस्लिम धर्म का प्रचार बढ़ता जा रहा था। शासक मन्दिर गिराकर वहाँ मस्जिदें बनवा रहा था। दूसरी ओर हिन्दू धर्म निर्गुण-सगुण, शैव-शाक्त, शैव-वैष्णव आदि अनेक सम्प्रदायों में बंट गया था। ये सभी सम्प्रदाय अपने विरोधी सम्प्रदाय का विरोध करने में संलग्न थे। रूढ़ियों तथा आडम्बरों के कारण हिन्दू धर्म का अस्तित्व खतरे में था। कबीर, नानक, रैदास आदि सभी कवियों ने निर्गुण-निराकार ईश्वर की भक्ति पर बल देते हुए हिन्दुओं-मुसलमानों को एक-दूसरे के समीप लाने का प्रयास किया। यह कबीर जैसा क्रान्तिकारी कवि ही था जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों को फटकारते हुए कहा–

**"जे तू बाह्मण-बाह्मणी जाया तो आन बाट है क्यों नहीं आया।**
**जे तू तुरकन-तुरकनी जाया तो भीतर खतना क्यों न कराया।"**

Scanned with ACE Scanner

## रीतिकालीन परिस्थितियों की विवेचना कीजिए।

**उत्तर–रीतिकालीन परिवेश**–परिवेश का अभिप्राय होता है–वातावरण। साहित्यिक संदर्भ में वातावरण के अंतर्गत किसी काल विशेष की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक, आर्थिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है। क्योंकि इनका काल विशेष के साहित्य पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। हिन्दी साहित्य का रीतिकाल एक ऐसा काल है, जिसके नामकरण के विषय में प्रायः विद्वानों में मतभेद रहा है, परंतु अधिकांश विद्वान इसकी समय-सीमा के विषय में प्रायः एकमत हैं। साहित्येतिहास में किसी काल का विभाजन कोई रेखा खींचकर स्पष्ट रूप से नहीं किया जा सकता कि इस समय के बाद की रचनाएँ अमुक काल से संबंधित हैं तथा इस समय से पूर्व की रचनाएँ अमूक काल में आएँगी। इसका कारण यह है कि साहित्य में प्रवृत्तियाँ एक दिन या एक वर्ष में ही नहीं बदल जातीं, बल्कि इसके लिए पन्द्रह से बीस वर्ष तक का भी समय लग जाता है। अतः रीतिकाल के परिवेश पर विचार करने से पहले रीतिकाल की काल-सीमा को जान लेना भी आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार रीतिकाल की सीमा का निर्धारण किया है। यथा–जार्ज ग्रियर्सन ने 1580 ई. से 1920 ई. तक रीतिकाल का निर्धारण किया है। मिश्र बन्धुओं ने संवत् 1681 से 1790 तक, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, बाबू श्यामसुन्दर दास, डॉ. रामकुमार वर्मा, आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने संवत् 1700 से 1900 तक, हजारी प्रसाद द्विवेदी ने सन् 1650 से 1850 तक स्वीकार किया है। चूँकि डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरिश्चन्द्र वर्मा समेत अन्य विद्वानों ने संवत् 1700 से 1900 तक की काल-सीमा को ही 'रीतिकाल' कहा है, अतः यहाँ पर भी इसी काल-सीमा की ऐतिहासिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि परिवेश का विवेचन किया जा रहा है।

Scanned with ACE Scanner

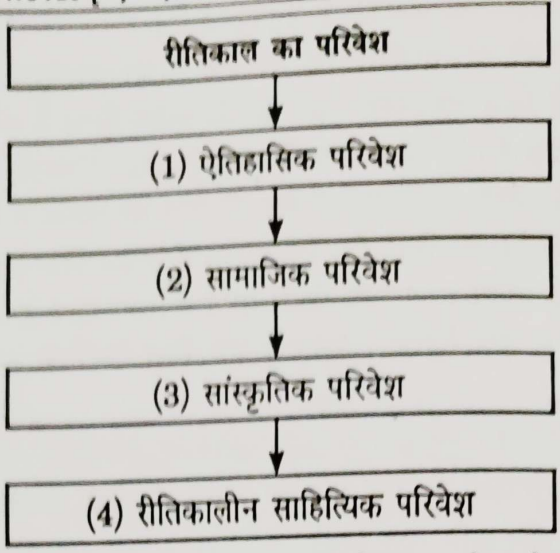


**1. ऐतिहासिक परिवेश**–रीतिकाल के आरम्भ में मुगल-शासन का वैभव चरमोत्कर्ष पर था। उस समय शाहजहाँ उत्तरी भारत का बादशाह था। उसने अपने विरासत में मिले साम्राज्य का विस्तार करने के लिए अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं। उसने दक्षिण में अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुण्डा, पूर्व में आसाम, उत्तर-पश्चिम में सिन्ध के लहरी बन्दरगाह तक अपना साम्राज्य फैला लिया था। इस काल तक अधिकांश राजपूत शासकों ने भी दिल्ली के शासक की अधीनता स्वीकार कर ली थी और वे दिल्ली-दरबार में विश्वास-पात्र व स्वामीभक्त सेवक के रूप में स्थान प्राप्त कर चुके थे। अतः रीतिकाल के आरम्भ में राजनीतिक दृष्टि से देश में पर्याप्त शान्ति थी, राजकोष धन से भरा हुआ था। इस युग में ताजमहल व सोने के मयूर सिंहासन अर्थात् तख्ते ताऊस का निर्माण हो चुका था।

परन्तु सन् 1658 में राजनीतिक अस्थिरता का माहौल बना। इस समय शाहजहाँ की बीमारी की खबर सुनकर उसके चारों पुत्रों दारा, शूजा, औरंगजेब आदि में दिल्ली की सत्ता के लिए परस्पर संघर्ष आरम्भ हुआ। शाहजहाँ अपने बड़े पुत्र दारा को शासक बनाना चाहता था क्योंकि वह धार्मिक सहिष्णुता, उदारता के लिए लोकप्रिय था। परन्तु उसका छोटा पुत्र औरंगजेब जोकि कट्टर मुसलमान था, महत्त्वाकांक्षी था। फलतः उसने षड्यन्त्र, कुटिल रणनीति आदि के बल पर अपने तीनों भाइयों को समाप्त कर दिया, पिता शाहजहाँ को कारागार में डाल दिया और स्वयं दिल्ली का शासक बन बैठा।

जिस शासन को औरंगजेब ने लूटपाट, हत्या आदि के बल पर प्राप्त किया था, उसी सत्ता में जागीरदारों, हिन्दू राजाओं आदि ने उपद्रव करने आरम्भ कर दिए। उसका अधिकांश समय इन उपद्रवों को शान्त या उनका दमन करने में ही बीता। फलतः वह न तो राज्य में शान्ति स्थापित कर सका और न ही राज्य की सीमाओं का विस्तार कर सका। शिवाजी जैसे हिन्दू शासकों ने भी उसे कभी चैन से नहीं सोने दिया। सन् 1707 ई. में उसकी मृत्यु के बाद उसके पुत्रों में भी गद्दी के लिए संघर्ष हुआ। उसका दूसरा पुत्र 'शाह आलम प्रथम' गद्दी पर बैठा परन्तु उसकी सन् 1712 ई. में मृत्यु हो गई। उसके पश्चात् मुगल साम्राज्य का पतन आरम्भ हो गया। क्योंकि अगले 50 वर्षों तक एक भी मुगल शासक अपनी योग्यता, महत्त्वाकांक्षा, दूरदर्शिता का परिचय न दे सका। फलतः दिल्ली की गद्दी पर एक के बाद एक करके विलासी, शराबी शासक बैठते तथा कुछ दिनों के बाद वे या तो किसी षड्यन्त्र का शिकार होकर मर जाते या उन्हें पदच्युत कर दिया जाता। अतः इस समय तक अधिकांश जागीरदारों ने स्वयं को अत्यन्त शक्तिशाली बना लिया था।

सन् 1738 में नादिरशाह के आक्रमण ने मुगल शासन की नींव को हिलाकर रख दिया। सन् 1761 ई. में अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण ने मुगल शासन की मानो रीढ़ की हड्डी ही तोड़ दी। ऐसी राजनीतिक अव्यवस्था का फ्रांसीसियों एवं अंग्रेजों ने भरपूर लाभ उठाया। उन्होंने अपने व्यापार के बहाने धीरे-धीरे भारत की शासन-व्यवस्था में दखल देना आरम्भ कर दिया और अन्ततः ऐसी स्थिति भी बनी कि सन् 1803 में अंग्रेजों ने पूरे उत्तरी भारत पर अपना अधिकार जमा लिया। सन् 1857 तक अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली बने मुगल शासक ही दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठे। अंग्रेजों ने 'लैप्स नीति' के तहत अधिकांश भारतीय राजाओं के राज्य अपने अधीन कर लिए। फलतः राजनीतिक स्तर पर भारतीय शासकों में एक ओर असंतोष की भावना थी, वहीं वे स्वयं को असुरक्षित भी अनुभव कर रहे थे। अन्ततः रीतिकाल के समाप्त होने के कुछ समय पश्चात् ही सन् 1857 में देश की स्वाधीनता के लिए पहला संग्राम लड़ा गया जिसे अंग्रेजों ने 'गदर' कहा। इसकी असफलता ने अंग्रेजों को भारत का निरंकुश शासक स्थापित कर दिया।

Scanned with ACE Scanner

2. सामाजिक ... परिस्थितियाँ उत्तम न थीं। इस काल को यदि सामाजिक दृष्टि से अधःपतन का युग कहा जाए तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। इस काल के समाज को मुख्य रूप से दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—शासक वर्ग व शोषित वर्ग।

रीतिकालीन समाज में मुट्ठी-भर शासक वर्ग, उसके अधिकारियों, कर्मचारियों, सामन्तों आदि का बोलबाला था। समाज की केन्द्रीय सत्ता बादशाह था। उसके अधीन अनेक दरबारी अधिकारी यथा—मनसबदार अमीर-उमराव आदि थे तथा उनके अधीन दूसरे कर्मचारी आते थे। इन सभी कर्मचारियों, अधिकारियों का मुख्य लक्ष्य अपने से ऊपर के अधिकारी को प्रसन्न रखना व अपना स्वार्थ पूरा करना था। फलतः पूरी सामाजिक व्यवस्था का मुख्य नियंत्रण अयोग्य व चापलूस अधिकारियों के हाथों में चला गया। निःसंदेह, इस वर्ग का रहन-सहन, खान-पान का स्तर काफी ऊँचा था। ये लोग विलासी व सुखमय जीवन व्यतीत करते थे।

दूसरी ओर शासित वर्ग नारकीय जीवन व्यतीत करता था। इस शासित वर्ग में भी सेठ-साहूकार आदि कृषकों, मजदूरों का शोषण करके अपना निर्वाह करते थे। फलतः सेठ, साहूकारों, व्यापारियों का यह वर्ग थोड़ा-बहुत खुशहाल था। परन्तु शेष बचे श्रमिकों, कारीगरों, कृषकों आदि का जीवन अत्यन्त कष्टमय था। राजा की विशाल सेना के प्रयाणों, युद्ध-विभीषिका, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि का सीधा प्रभाव इन मजदूरों, किसानों पर ही पड़ता था। इनसे बेगार लेना शासक व शासन के कर्मचारियों का अधिकार माना जाता था। फलतः जहाँ यह वर्ग दिन-रात मेहनत करके जो थोड़ा-बहुत अन्न उत्पन्न करता था, उसका बड़ा भाग शासन की भेंट हो जाता था और इस प्रकार उन्हें भूखे, नंगे रहकर बेगार भी देनी पड़ती थी। प्रतिकार करने पर इनके लिए कठोर दण्डों की भी व्यवस्था थी। फलतः उनका जीवन पशुओं से भी गया बीता था।

शासक वर्ग ने अपने भोग-विलास के लिए बड़े-बड़े महलों, उद्यानों आदि का तो निर्माण कराया था, परन्तु जनसाधारण की शिक्षा, उसके स्वास्थ्य, सम्पत्ति-रक्षा आदि के लिए कोई व्यवस्था न की। फलतः समाज का एक बहुत बड़ा भाग कुपोषण का शिकार था, अशिक्षित था तथा असुरक्षा की भावना से ग्रसित था।

समाज में पुरुष व नारी की स्थिति में दिन-रात का अन्तर था। पुरुष प्रधान समाज में नारी को केवल भोग-विलास की वस्तु माना जाता था। फलतः किसी भी सुन्दर लड़की या स्त्री का अपहरण हो जाना एक सामान्य-सी बात थी। इसी कारण समाज में बाल-विवाह का प्रचलन बढ़ने लगा था। शासक वर्ग के लोग अनेक रानियों, दासियों के होते हुए भी वेश्याओं के पास जाया करते थे। फलतः समाज में वेश्यावृत्ति का प्रचलन बढ़ा हुआ था। शासक वर्ग के इन लोगों ने अपने बच्चों की शिक्षा के लिए जिन शिक्षकों को रखा हुआ था, वे शिक्षक भी उन्हें काम-कला की शिक्षा में निपुण करके अपने कार्य की इतिश्री करते थे। फलतः राज परिवारों में राजकुमारों, शहजादों को युवावस्था से पहले ही शराब-शबाब का चस्का पड़ जाता था। पूरे समाज में एक ओर तो भूखे-प्यासे लोग पेट भरने की जुगाड़ में रहते थे जबकि दूसरी ओर उच्च वर्ग के धनाढ्य लोग अपनी काम-पिपासा को शान्त करने व मनोरंजन करने में ही व्यस्त रहते थे। तीतर-बटेर आदि की लड़ाई, शिकार खेलना, युवतियों व वेश्याओं के साथ खिलवाड़ करना ही पुरुषों का मुख्य शौक था। अतः ऐसी दशा में देश व देशवासियों के प्रति कोई भी व्यक्ति सचेत न था।

**3. सांस्कृतिक परिवेश**—धर्म, दर्शन, शिक्षा, साहित्य, ललित-कला, सामाजिक रीतियाँ आदि के कुल योग का नाम ही संस्कृति है। अतः रीतिकालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी इसी परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया जा रहा है। रीतिकालीन समाज में मुख्यतः दो समुदायों—हिन्दू व मुसलमान का बोलबाला था। परन्तु दोनों ही समुदायों में विशुद्ध धार्मिक भावनाओं का लगभग लोप हो चुका था तथा पाखण्ड, आडम्बर, कुत्सित शृंगार ने उसका स्थान ले लिया था। पंडे, पुरोहित, मौलवी, मुल्ला आदि ने धार्मिक स्थलों को वासना का अड्डा बना दिया था। यद्यपि इसी काल में नरहरि, नागरीदास जैसे साधु भी थे परन्तु धर्म में पाखंडियों का ही बहुमत था। इस काल में दर्शन-चिंतन का लगभग अभाव-सा था।

रीतिकाल में शिक्षा प्रायः प्रतिष्ठित परिवार या उच्च कुल के सीमित क्षेत्र तक संकुचित थी। यद्यपि धनाढ्य वर्ग के लोगों के बच्चों के लिए शिक्षा प्राप्ति के साधन थे परन्तु जनसाधारण इस सुविधा से वंचित था। इस काल में शिक्षा जगत् में कलापरक विषयों को ही अधिक पढ़ाया जाता था, विज्ञानपरक विषयों का अभाव था। इस काल में छात्रों को प्रायः अन्य भाषा, काव्य, दरबारों में प्रयुक्त होने वाली भाषा की शिक्षा प्रदान करने का प्रयास किया जाता था।

इस काल में साहित्यिक परम्पराओं पर तत्कालीन शासकों की मनोवृत्तियों का भी प्रभाव पड़ा। शाहजहाँ जैसे कला प्रेमी सम्राट् के दरबार में जगन्नाथ, चिन्तामणि, बिहारी जैसे कवियों, आचार्यों को विशेष स्थान प्राप्त था। परन्तु ज्यों-ज्यों आगे के शासक विलासी-प्रवृत्ति में रमते गए त्यों-त्यों साहित्य में शृंगार-वर्णन की वृत्ति भी बढ़ती गई। इसी काल में रीति ग्रन्थों का अत्यधिक मात्रा

Scanned with ACE Scanner